समयसार प्रवचन
नवम् भाग

आत्माका स्वसमयपना और परसमयपना—समस्त जीव दो श्रेणियोंमें विभक्त हैं स्वसमय और परसमय। स्वसमयमें चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवसे लेकर सिद्ध पर्यन्त सब स्वसमय कहलाते हैं। और इसके अतिरिक्त नीचेके गुणस्थान वाले सब जीव परसमय कहलाते हैं। स्वसयम अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्माका सहजस्वरूप पहिचान लेते हैं और उन्हें यह अनुभव हो जाता है कि यह स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूप है, परिपूर्ण है। बाहरमें कुछ करनेको नहीं पड़ा है। इस श्रद्धाके बलसे उन जीवोंमें इतना बल प्रकट होता है कि पदार्थोंमें कैसा ही परिणमन हो उस परिणमनके कारण अपनेमें कोई शंका नहीं लाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव आठ गुणोंकर सहित होता है सम्यग्दर्शन अष्टअंग युत होता है। जैसे मनुष्य के शरीरमें आठ अंग हैं इसी प्रकार सम्यग्दर्शन भी ८ अंग वाला है मनुष्यका कोई अंग निकल जाय, हाथ टूट जाय तो मनुष्य वह कार्य नहीं कर सकता जो अष्टांग पुरुषकर सकता है। मर तो नहीं जायगा वह, पर उनमें कोई अंग ऐसा विकट कट जाय कि मर्म घाती हो तो मर भी जाय। इसी तरह इन ८ अंगोंमें कोई अंग सम्यग्दर्शनका कम हो जाय तो अष्टांग सम्यग्दर्शनका जो फल होता है वह फल इस अंगहीन सम्यक्त्वका नहीं होता है और कदाचित् वह अंग इस तरहसे कटे कि सम्यग्दर्शनके मर्मका ही घात करदे तो सम्यग्दर्शन नष्ट भी हो जाता है।

सम्यग्दर्शनके अष्ट अङ्ग—सम्यग्दर्शनके ८ अङ्ग ये हैं निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सत, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, वात्सल्य, स्थितिकरण और प्रभावना। इनका संक्षिप्त स्वरूप यह है कि जिनेन्द्रदेवके वचनमें शंका न करना, अपने स्वरूपका संदेह न करना सो निशंकित अङ्ग है। भोगोंकी आकांक्षा न करना निकांक्षित अङ्ग है, धर्मी पुरुषोंसे ग्लानि न करना निर्विचिकित्सित अङ्ग है, मूढ़ता भरी बातमें न बह जाना सो अमूढ़दृष्टि अङ्ग है, दूसरों के दोषोंको अप्रसिद्ध करना उपगूहन अङ्ग है, धर्मी पुरुषोंसे निष्कपट प्रेम करना वात्सल्य अङ्ग है, धर्मसे च्युत हो रहे धर्मी जनोंको तन, मन, धनसे सहारा लगाना सो स्थितिकरण अंग है और जगतमें धर्मकी प्रभावना करना सो प्रभावना अंग है।

दृष्टान्तमें देहाङ्गकी तुलनामें प्रथम अङ्ग—देखो भैया! शरीरके ८ अंगोंमें भी सम्यग्दर्शनके ८ अंगोंकी तरह कला बस रही है। जब मनुष्य चलता है, मानो एक दाहिना पैर आगे धरता है तो चलते हुएमें निःशंक कदम रखता जाता है। कोई शंका भी वह आगे कदम रखनेमें करता है क्या? जब वह चलता है तो अपना कदम आगे बढ़ानेमें कोई शंका तो नहीं करता? कहीं ऐसी शंका वह नहीं करता कि धरती न धंस जाय, मेरा पैर जमीनमें न घुस जाय। वह तो निःशंक होकर शूरताके

साथ अपना कदम आगे बढ़ाता है। शरीरके ८ अंगोंमें से दो पैर दो अंग हैं, दो हाथ दो अंग हैं और वक्षस्थल एक अंग है, पीठ एक अंग है और जिसपर बैठते हैं वह नितंब भी एक अंग है और सिर भी एक अंग है, ऐसे ८ अंग हैं। शरीरके आठ अंगोंमें भी सम्यग्दर्शनके अंगों जैसी कला भरी हुई है। जब यह मनुष्य चलता है तो अगला पैर निःशंक होकर रखता है। सम्यग्दर्शनमें एक निःशंकित अंग कहा है, तो मान लो कि जब दाहिना पैर रखते हैं तो वह पैर निःशंकित अंगका प्रतिनिधि बन गया।

द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ अङ्गकी तुलनानिःकांक्षित अङ्गमें भोगोंकी आकांक्षा नहीं रहती है, उपेक्षा रहती है, हटाव रहता है तो जब दाहिना पैर रखा तो पिछले पैरकी क्या हालत होती है? उपेक्षा कर देता है, हटा देता है, उस जमीनको देखता भी नहीं है, तो वह दूसरा पिछला पैर निःकांक्षित अंगका प्रतिनिधि बन गया। तीसरा अंग होता है निर्विचिकित्सित अंग। ग्लानि न करना। मनुष्य टट्टी जाता है और बायें हाथसे शुद्धि करता है तिस पर भी किसी भी प्रकारकी ग्लानि नहीं करता, यही हुआ निर्विकित्सित अंग। ऐसा यह बांया हाथ निर्विचिकित्सित अंगका प्रतिनिधित्व करता है। चौथा अंग है अमूढ़दृष्टि अंग। किसी गलत रास्तेमें न बह जाना यही है अपूरदृष्टि। इसके बड़ा बल होता है और दृढ़ताके साथ वह अपनी बात पेश करता है, तो यह दाहिना हाथ भी बड़ी दृढ़ताके साथ टेबुल ठोककर अपनी बात पुष्ट करता है। कभी जोरसे कहनेका मौका आये, किसी बातको यथार्थ जतानेका मौका आये तो बांया हाथ नहीं ठोका जाता है, दाहिना हाथ ही ठोका जाता है, यह दृढ़ता गलतफेमियोंमें नहीं है। यह दृढ़तासे अंगुली मटकाकर कहता है। वस्तुस्वरूप ऐसा ही है तो यह दाहिना हाथ अमूढ़दृष्टि अंगका प्रतिनिधि बन गया।

पंचम, षष्ठ, सप्तम व अष्ठम अङ्गकी तुलनाइसके बाद है उपगूहन अंग। दोषों को छिपाना। प्रत्येक पुरुष अपने नितंब छिपाते हैं। तौलिया पहिने हों, धोती पहिने हों तो भी छुपाते हैं तो इन नितंबोंको छिपानेमें वह छिपाना ही उपगूहनका प्रतिनिधि बन गया। इसके बादका अंग है स्थितिकरण। स्थितिकरण वह कहलाता है कि धर्मात्मावोंको स्थिर कर दे, मजबूत कर दे। इनका बोझ खुद उठा ले। तो ठीक है। पीठ ही ऐसी मजबूत है कि उसपर बोझा लाद लिया जाता है। लोग कहते हैं ना कि इस बोझको पीठपर लादकर ले जाइए। बड़ा बोझ पीठपर ही लादा जा सकता है। यह पीठ इस स्थितिकरण अंगका प्रतिनिधि बन गई। इसके बाद ही वात्सल्य अंग। वात्सल्य अंगमें धर्मात्मा जनोंपर निष्कपट प्रीति दर्शायी जाती है। इस वात्सल्य अंगका प्रतिनिधि बनता है हृदय। वात्सल्य हृदय ही करता है, प्रेम करनेका कार्य हृदय ही निभाता है। इसके बाद है प्रभावना अंग। प्रभावना का काम सिरसे होता है। सिर न हो, सारा शरीर हो तो वह बेकार है। सिर न हो तो प्रभावनाका प्रतिनिधि क्या बनेगा? किसी मनुष्यपर प्रभाव पड़ता है तो मुख मुद्रासे और सिर की चेष्टावोंसे पड़ता है। अभी कोई मनुष्य मुँह ढके हुए बैठा हो तो उसका डर नहीं लग सकता। कैसा ही बड़ा पुरुष हो उसका संकोच और लिहाज नहीं किया जा सकता। और उघड़ा हुआ सिर

हो तो उसका प्रभाव होता है। तो इस प्रभावना अंगका प्रतिनिधि सिर बन गया।

शरीरके अंगोंकी तरह सम्यग्दर्शनके ८ अंग होते हैं। इन्हीं आठ अंगोंका इस निर्जराधिकारमें वर्णन चलेगा। ये अन्तिम ८ गाथाएँ हैं। निर्जराधिकारमें इसमें एक गाथामें एक अङ्गका वर्णन है। उनमें सर्वप्रथम निःशंकित अंगका वर्णन किया जा रहा है।

सम्मइट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका॥ २२८॥

ज्ञानीकी निर्भयताका कारण□सम्यग्दृष्टि जीव चूँकि तत्वज्ञानी है, अतः निःशंक होता है, इसी कारणसे वह निर्मय है, अथवा जिस कारण सम्यग्दृष्टि पुरुष ७ भयोंसे विमुक्त होता है इस कारण उसे निःशंक कहा गया है। सम्यग्दृष्टि जीव सदा काल ही समस्त कर्मफलोंकी अभिलाषासे रहित है। इसी कारण अत्यन्त कर्मोंसे निरपेक्ष है और इसी कारण उनका आत्मा अत्ययंत निःशंक दृढ़तम निर्विकल्प रहता है। ऐसा होता हुआ यह सम्यग्दृष्टि जीव अत्यन्त निर्भय कहा जाता है। भय ७ प्रकारके होते हैं। इस लोकका भय, परलोकका भय, वेदनाका भय, अरक्षाका भय, अगुप्तिका भय, मरणका भय और आकस्मिक भय। इन ७ भयोंके बारेमें क्रमशः वर्णन चलेगा।

इहलोक भयके कुछ उदाहरण□प्रथम भयका नाम है लोकभय। ऐसा भय हो कि इस लोकमें हमारी जिन्दगी अच्दी तरह निभेगी या नहीं? क्या हाल होगा, अनेक वृद्ध पुरुषोंको देखा जाता है कि उनकी कोई जान पूछ नहीं करता, लोक उनकी परवाह नहीं करते। जब जान लिया कि अब यह किसी कामका नहीं रहा तो उसकी परवाह करने वाला बिरला ही सपूत होता है। वृद्धावस्था सबके ही आया करती है। वृद्धावस्था आने पर मेरा क्या हाल होगा, इस प्रकारका भय करना, यह लोकभय है। अथवा बड़ा विकट कानून बन रहा है। अभी जमींदारी मिटनेका कानून लगा दिया था तो उससे कितने ही घरबार दुःखी हो गए। स्वर्णका कंट्रोल कर दिया तो कितने ही दूकानदार उससे परेशान हो गए। मकान किरायेका मामला भी विचित्र है। कभी ऐसा कानून बन जाय कि जिस मकानमें जो रहता है वह किरायेका २० गुना दे दे या कुछ कर दे उसका ही है। ऐसा हो गया हो यह भी गया अथवा चारों ओर से आक्रमणकी बात सुनाई दी जा रही है, क्या हाल होगा, इस प्रकारका भय करना यह सब लोक भय है। वर्तमान जिन्दगीमें जीवन सम्बन्धी, आजीविका सम्बन्धी भय करना लोकभय कहलाता है। यह भय सताता है पर्यायदृष्टिके जीवोंको।

लोकका व्युत्पत्तिपरक आध्यात्मिक भाव□सम्यग्दृष्टि पुरुष तो जानता है कि मेरा लोक मैं हूँ। मेरेसे बाहर मेरा लोक नहीं है। जो देखा जाय उसका नाम लोक है। 'देखने' शब्दमें कितनी ही धातुएँ हैं देखना, तकना, अवलोकना, लुकना, लोकना, निरखना, निहारना आदि अनेक धातुवें हैं। ये दिखनेमें एकसे शब्दहैं, पर इन सब शब्दोंके जुदे-जुदे अर्थ हैं। मोटे रूपसे एक बात कह देते हैं पर अर्थ जुदे-जुदे हैं। जैसे तकना। तकना वह कहलाता है जो जरासे पोलके अन्दरसे देखा जाय। बच्चे लोग खेला करते हैं तो वे तक्का-तक्कासे देखते हैं, देख लिया खुश हो गये, इसे कहते हैं

तकना। देखना क्या कहलाता है? चक्षुवोंसे देखना देखना कहलाता है। निहारना क्या है? उसका मर्म सोचते हुए उसके भीतरकी परख करते हुए की स्थितिको देखना इसे निहारना कहते हैं। कहते हैं न कि क्या निहारते हो? बड़ी देरसे देखना इसका नाम निहारना है। लोकना क्या है? किसीका पता न हो, स्वयं है, गुप्त होकर कुछ देखा जाय इसका नाम है लोकना। जो लोका जाय उसे लोक कहते हैं। उसे कोई नहीं जान सकता, उसे मैं ही जानता हूँ, ऐसा मेरे द्वारा मैं ही अवलोका जाता हूँ तो यह लोक मैं स्वयं ही हूँ।

परमार्थ इहलोककी विशेषतायेंयह लोक शाश्वत है। मेरा लोक कभी नष्ट होने वाला नहीं है, सदा काल व्यक्त है अथवा सब जीवोंमें प्रकट है। इस विविक्त आत्माके शुद्ध स्वरूपको तत्वज्ञानी पुरुष स्वयं ही केवल देखता है, ऐसा चेतन लोकमें यह अकेला ही अवलोकन करता हूँ। इस लोकमें कहाँसे हानि है? क्या किसी भी प्रदेशमें मेरा विनाश हो सकता है? मेरा क्या, जगतके किसी भी पदार्थ का कभी नाश नहीं हो सकता। परिणतियाँ बदलें, यह बात अलग हे, मगर विनाश नहीं हो सकता है। यह लोक शाश्वत है, सदा काल व्यक्त है। इस लोकमें यह आत्मा स्वयं ही एक अकेला अवलोकन करता है, अकेला अवलोका जाता है। इस लोकका कहींसे भी कुछ विनाश नहीं होता है। कैसा ही गड़बड़ कानून बन जावे, मेरा आत्मा शाश्वत है, यह सदा काल रहेगा।

आनन्दमय तत्वपर तृष्णाका आघातभैया! विचारोंकी तृष्णाकी तो हद नहीं है। तृष्णावश किसी भी परिस्थितिमें अपनेको दुःखी माना करे तो यह उसकी कल्पनाकी बात है। परन्तु है आत्मा अविनाशी व क्लेशसे रहित। जिसकी जो परिस्थिति है तृष्णा लगी है तो उस परिस्थितिमें वह संतोष नहीं करता। उससे आगेकी बात सोचता है। अभी मेरे पास कम है, इतना और हो जाय तो ठीक है। सो इस तृष्णामें क्या होता है। कि जो वर्तमानमें सुखका साधन मिला है उसे ही सुखसे नहीं भोग सकता। उस तृष्णासे भविष्यकी बात तो हाथ नहीं और हाथमें आई बातका सुख नहीं, इसलिए सब एकसे गरीब हैं। लखपति हो तो, करोड़पति हो तो, हजारपति हो तो और भिखारी हो तो जिसके तृष्णा है वह गरीब है। और जब तृष्णा न रहे, जो वर्तमानमें पाये हुए समागमको आरामसे भोगकर नेशांति और धर्मकी प्रीति रखे, अमीरी तो उसे कहा जायगा, पर जो जिस परिस्थितिमें है वह अपनी परिस्थितिसे आगे तृष्णावश कल्पनाएँ दौड़ता है और दुःखी होता है। तो तृष्णा रख वाले सभी गरीब हो गए।

तृष्णाकी गरीबियोंकी समानतावैसे शरीरका रोग कोईसा भी हो, सहा नहीं जाता, उसमें जब छंटनी करने बैठते हैं तो कोई कहता है फोड़ा-फुन्सी होनेपर कि इससे तो बुखार हो जानेमें अच्छा था। आरामसे पड़े रहते, मगर यह फोड़ा तो असह्य वेदना कर रहा है। जब जिसके बुखार आता है और शरीरमें बड़ी पीड़ा होती है तो वह सोचता है कि इससे तो अच्छा था कि कोई अंगुली टूट जाती या चाकूसे छिल जाती, फोड़ा ही हो जाता उससे आरामसे बैठा तो रहता। इस तरहसे शरीरमें जो रोग होता है वह तो असह्य लगते हैं और अन्य रोग सरल लगते हैं। तो अब बतलावो

कि कौनसा रोग अच्छा है? रोग सब एकसे हैं और सभी दुःखके कारण हैं। इसी तरह हजारपति हो, लखपति हो, अरबपति हो, जिसके तृष्णा रहती है वे सब दुःखी हैं। अरबपति क्या सोचता है कि मेरा सारा मकान यदि कूलर होता तब गर्मीमें आनन्द मिलता। गर्मीके दिनोंमें इतनेमें कहाँ सुख रखा है? करोड़पति उन अरबपतियोंकी हालतको देखकर तरसते हैं, सो वे भी चैनसे नहीं रह पाते हैं॥ और कदाचित् धनाढ्य पुरुषोंके सत्कारमें, प्रशंसामें कुछ कमी हुई तो वहाँपर भी अंधेरा मच जाता है। यह मोहकी नींदका सारा खेल है। तत्व कही कुछ नहीं रखा है। तृष्णा जिसके लगी है, चाहे करोड़पति हो, चाहे लखपति हो, चाहे हजारपति हो, सभी दुःखी हैं। केवल मोहके स्वप्नमें सारा गौरव माना जा रहा है।

आत्माकी परिपूर्णता व निर्भयतायह मैं लोक सर्वसंकटोंसे परे हूँ। ज्ञान, दर्शन, शक्ति, आनन्द आदि अनन्तगुणोंका पिण्ड हूँ। स्वतः परिपूर्ण हूँ, यह मैं पूर्ण हूँ प्रभु परमात्मा है वह तो उभयथा पूर्ण है। प्रभुका स्वभाव और भाव दोनों पूर्ण हैं, हमारा स्वभाव पूर्ण है, मैं परिपूर्ण हूँ, अखण्ड हूँ, अविनाशी हूँ, अनन्त गुणोंका पिण्ड हूँ। इस मुझ पूर्णमें से जब जो पर्याय प्रकट होती है वह पर्याय परिपूर्ण ही प्रकट होती है। किसी भी समयकी पर्याय अधूरी नहीं है। प्रत्येक पर्याय अपने समयमें परिपूर्ण ही प्रकट होती है। किसी भी समयकी पर्याय अधूरी नहीं। प्रत्येक पर्याय अपनेमें पूर्ण ही हुआ करती है, चाहे विभाव पर्याय हो, या स्वभाव पर्याय हो, कोई भी पर्याय यह प्रार्थना नहीं करती है कि जरा ठहर जावो, मैं अधूरी ही बन पायी हूँ। प्रत्येक समयमें जो परिणमन होता है वह परिणमन पूर्ण ही होता है। वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है। मैं परिपूर्ण हूँ, प्रभु भी परिपूर्ण है। इस पूर्णसे पूर्ण ही प्रकट होता है। अधूरा कुछ नहीं प्रकट होता है और यह पूर्ण परिणमन प्रकट होकर दूसरे समयमें विलीन हो जाता है। तो यह पूराका पूरा विलीन हो गया, फिर भी यह मैं पूराका पूरा हूँ, ऐसा परिपूर्ण अविनाशी अखण्ड मैं आत्मा हूँ। इस आत्मामें कहाँसे भय?

लोकका परमार्थ आधारमेरा लोक मुझसे बाहर नहीं है। यदि मेरा लोक मुझसे बाहर होता तो बाहरके संयोग वियोगके कारण मेरे लोकमें फर्क आ जाता। पर मेरा लोक तो मैं ही हूँ। दुनियावी लोग भी ऐसा कहते हैं, जब किसीका कोई मात्र सहारा मालिक या पिता या स्त्री कोई गुजर जाय तो दुनियावी लोग कहते हैं कि मेरी तो दुनिया लुट गयी। अरे तेरी दुनिया कैसे लुट गई, तेरी दुनिया तेरा निज आत्मा है और अपनेको असह्य मान बैठा है यही दुनिया लुट गई। तो मेरी दुनिया मैं ही हूँ, मेरी दुनिया मुझसे बाहर नहीं है। वह तो एक अज्ञानीका कथन है। परमार्थसे तो जब तक अज्ञान है तब तक दुनिया लुटी हुई है और जब ज्ञान होता है तो उसकी दुनिया आबाद रहती है। पर्याय बुद्धिसे संयोग अथवा वियोगसे बरबादी और आबादी है। परपदार्थके संयोग-वियोगसे मेरी दुनिया न आबाद होती है और न लुटती है।

संसार लुटे-पिटोंका समूहभैया! यह सब लुटे हुए पुरुषोंका ही समूह है। इसीको ही संसार कहते हैं। लुटे हुए पुरुषोंके समूहका नाम संसार है। कौनसा ऐसा भाव है जो लुटा हुआ नहीं

है? एकेन्द्रिय जीव पेड़ पौधे, पशु पक्षी ये क्या लुटे हुए नहीं हैं? ये अपना ज्ञान दर्शन सब कैसा गँवा चुके हैं। एक जड़वत् खड़े हुए हैं। ये कीड़े-मकोड़े ये अरहंत सिद्धकी तरह प्रभुता वाले जीव होकर कैसी निम्न स्थितिमें आहार, भय, मैथुन, परिग्रह चारों संज्ञावोंके वश होकर लुटे हुए जीवन गुजार रहे हैं। इन पशु पक्षियोंकी बात देखो। इनका सब कुछ लुटा हुआ है, पराधीन हैं बेचारे। छोटे बालक भी इन्हें डंडेसे पीट सकते हैं। अगर तेजीसे वह पशु सांस ले ले तो अपना स्थान छोड़कर बाहर भग जाते हैं, ऐसे बालक भी उन्हें पीट लेते हैं। ऐसे बलवान पशुवोंको भी यह बालक डंडेके वश किए हुए हैं। ये शेर हाथी आदि जिनके बलका बहुत बड़ा विस्तार है एक दुर्बल मनुष्य भी अंकुश लेकर, बिजलीका कोड़ा हाथ में लेकर वशमें किए हुए हैं। जहाँ चाहे घुमाए। जहाँ चाहे उनसे काम कराये। कैसे लुटे हुए हैं ये पशु पक्षी? और मनुष्य भी क्या लुटा हुआ नहीं है? लुटा हुआ है। अपने स्वार्थकी वासनामें आसक्त होकर स्वार्थभरी आशाको लिए हुए यत्र-तत्र दौड़ रहा है। अपना जो अनन्त आनन्द है, अनन्त ज्ञान है उसकी परवाह नहीं है। क्या ये लुटे हुए नहीं हैं? ये सब लुटे हुए हैं। लुटे हुए जीवोंका समूहका नाम संसार है। यह जीव अज्ञानसे ही लुट गया है। ज्ञान हुआ कि यह आबाद हो जाता है। मेरा लोक मैं हूँ। स्वयं परिपूर्ण हूँ, मेरा विनाश नहीं है, ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि जीवके होता है, इस कारण वह सदा निःशंक रहता है।

सम्यग्दृष्टिके परलोकभयका अभावसम्यग्दृष्टि जीवको परलोकका भी भय नहीं रहता। परलोकका भय तो मिथ्यादृष्टिको भी नहीं रहता, उसे क्या परवाह पड़ी है? केसा होगा, क्या न होगा जो वर्तमान मौज है उसका मौज लेता रहता है, परलोकका भय तो मिथ्यादृष्टिके लट्ठमार पद्धतिसे नहीं रहता है। कदाचित् सम्यग्दृष्टिको परलोकका भय रहता है। हमारा परलोक न बिगड़ जाय, अच्छा समागम आगे मिले। कदाचित ऐसी कल्पनाएँ भी हो जाती हैं। पर यहाँ प्रकृत विवरण अंतरंग श्रद्धाके भयकी ओरसे कहा जा रहा है। चूकि सम्यग्दृष्टि जानता है कि जैसे यह लोक भी मेरे आत्मतत्वसे बाहरकी चीज नहीं है इसी प्रकार परलोक भी मेरे आत्मतत्वसे बाहरकी चीज नहीं है। कहीं भी होऊंगा यह मैं ही तो हाऊंगा। और यह मैं अपनी जानकारी बनाए रहूँ तो कुछ संकट ही नहीं है। संकट तो अपने आपकी जानकारी जब नहीं रहती है तब आते हैं। चाहे किसी भी गतिमें यह जीव हो, देव भी क्यों न हो, इन्द्र भी क्यों न हो, यदि उसे अपने आत्माका परिचय नहीं है तो वह संकटमें है। रागद्वेष भरी बाह्य वृत्तियोंमें वह रहेगा तो संकट अज्ञानमें होते हैं। ज्ञानमें तो संकट नहीं है। जब-जब भी किसी जीवका संकट किया जा रहा हो, समझना चाहिए कि हम ज्ञानवृत्तिमें नहीं हैं, अज्ञानकी वृत्तिमें लगे हैं।

परलोकभयके अभावका कारणभैया! परलोक अन्य कुछ नहीं है। यह ही शाश्वत एक सदा व्यक्त ज्ञायकस्वरूप यह मैं आत्मा ही इस लोककी भांति परलोक भी हूँ, ऐसा सम्यग्दृष्टि के बोध रहता है। परलोकका भी भय नहीं रहता। इस जीवपर संकट जन्म मरणका लगा है। यहाँके पुण्योदयसे प्राप्त कुछ वैभवमें क्या आनन्द मानें? यहाँके ये सारे समागम मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं,

उनकी ओरसे मुझमें कुछ आता नहीं है। मैं ही उनको विषयभूत बनाकर अज्ञानसे कल्पनाएँ किया करता हूँ और दुःखी रहा करता हूँ। मेरा यह लोक जो मेरे द्वारा लोका जा रहा है वह मेरे अवलोकनमें रहे तो वहाँ भयकी कुछ बात नहीं है।

भयास्पद संसारभयोंके स्वरूपकी ओर देखा तो यहाँ भयोंका भयानक बन है। कैसे-कैसे भव इस संसारी जीवके साथ शुरूसे लगे? सबसे निम्न भव निगोदका है। निगोद जीव दो प्रकारके होते हैं एक सूक्ष्म निगोद और एक वादर निगोद। सूक्ष्म निगोद तो किसी भी वनस्पतिके आधार नहीं हैं। यह आकाशमें सर्वत्र लोकाकाशमें व्यापक हैं। उन्हें अग्नि जला नहीं सकती, जल उन्हें गला नहीं सकता, हवा उन्हें उड़ा नहीं सकती, लाठीकी ठोकर उनके लग नहीं सकती। तब क्या वे बड़े सुखी होंगे? आग जलाए नहीं, पानी गलाए नहीं, हवा उड़ाए नहीं, किसीका आघात हो नहीं सकता। ऐसे सूक्ष्म निगोद जीव हैं तो क्या वे सुखी हैं? वे एक सेकेण्डमें २३ बार जन्ममरण कर रहे हैं निरन्तर, जब तक उनके निगोद भव है और जन्म मरणके दुःखका क्या स्वरूप बताया जाय? जो मरता है सो जानता है, जो जन्मता है सो जानता है। जन्म अपना हो चुके बहुत वर्ष व्यतीत हो गए, सो खबर नहीं है कि जन्मके क्या कष्ट होते हैं और मरण अभी आया नहीं है, सो मरणके भी कष्टोंका पता नहीं है। इस जीवने अनन्त जन्ममरण किए है मगर इसका ऐसा कमजोर ज्ञान है कि पूर्व भवके जन्ममरणकी तो कथा ही क्या है, इस जन्मकी भी याद नहीं है कि कैसे पैदा हुए थे, कैसे कष्ट थे, और जन्मकी बात छोड़ो साल दो सालकी उम्रकी भी बातें याद नहीं हैं। जब हमारा छोटा बचपन था उस समय कैसी स्थितिमें रहते थे, यह कुछ याद नहीं है। जन्म-मरणका बड़ा कठिन दुःख होता है।

निगोद जीवोंका संक्षिप्त विवरणसूक्ष्म निगोद सर्वत्र भरे हैं। जहाँ सिद्ध भगवान विराजे हैं उस जगह सूक्ष्म ही निगोद हैं, साधार निगोद नहीं हैं। वादर निगोद वनस्पतियों के आश्रय रहते हैं। जिन वनस्पतियोंके आश्रय रहते हैं उनका नाम है सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति। त्रस जीवोंके शरीरमें भी वादरनिगोद रहते हैं, पर वादरनिगोद जीव स्वयं वनस्पति कायिक हैं। वादरनिगोदकी जाति स्थावरमें शामिल है। आलू अरबी वगैरह ये स्वयं प्रत्येकवनस्पति हैं। ये देखनेमें आने वाले आलू ये निगोद नहीं हैं, ये प्रत्येकवनस्पति है। जैसे कि अमरूद, केला आदि खाने वाली चीजें प्रत्येकवनस्पति हैं। इसी तरह आलू आदि भी प्रत्येकवनस्पति हैं, पर अन्तर यह हो गया कि आलू आदिमें साधारणवनस्पति का और निवास है जब कि अमरूद आदिमें साधारणवनस्पतिका निवास नहीं है।

भक्ष्यफलकी अभक्ष्यताये फल जो भक्ष्य हैं जब कोमल अवस्थामें होते हैं, जिनकी रेखा नहीं निकलती उस समय साधारणवनस्पिति रहती है और जैसे ही ये ककड़ी आदि फल बढ़ जाते हैं तो उनमें जवानी होनेके चिन्ह प्रकट होते हैं, तब साधारणवनस्पति अपना स्थान छोड़ देता है। फिर अप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति कहलाता है। पहिले वह नहीं खाने योग्य है और बादमें वह खाने योग्य हो जाता है। बहुत कोमल भिण्डी, बहुत कोमल ककड़ी जो बड़ी छोटीसी रहती है वह सप्रति

प्रत्येकवनस्पति है। छोटेमें कोई भी हो वह सप्रति प्रत्येकवनस्पति होती है, पर कितनी ही वनस्पतियाँ ऐसी हैं कि पहिले अप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति रही थीं, पर पश्चात् सप्रतिष्ठित प्रत्येक बन जाती हैं। ऐसी भी कुछ वनस्पतियाँ हैं। वे न खाने योग्य वनस्पतियाँ है। जो खाने योग्य हैं वे सब प्रारम्भमें सप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति होती हैं और बढ़ जानेपर अप्रतिष्ठित प्रत्येक हो जाती हैं।

प्रत्येक शरीरी स्थावरोंकी विचित्र दशानिगोद भवसे निकला तो स्थावरके भवमें देख लो निगोद जीव तो साधारणवनस्पति हैं और आलू आदिक साधारणवनस्पति सहित प्रत्येकवनस्पति हैं। स्थावरमें चलिए कैसे-कैसे पेड़, लक्कड़से खड़े हैं, आकार प्रकार कैसा है? एक जगह खड़े हैं, कुछ बल नहीं दिखा सकते हैं। जिसने काटा सो काट लिया, छेदा सो छेद लिया। ऐसी उनकी शक्तिकी हालत है। हवाकी बात देखो। पहियोंमें, टायरोंमें भर दिया, भरी है १ वर्ष तक। वह हवा जीव ही तो है। उसे फूँकते हैं आगके सामने, तो हवा आगके पास पहुँचती है, या नाना विचित्र दशाएँ होती हैं, और स्वयं कैसा हवाका स्वरूप है, यह अनन्त शक्तिका स्वामी होकर भी इसकी कैसी-कैसी परिस्थितियाँ होती हैं? जल बन गया, अब घड़े-घड़ेमें जलकाय भरा हुआ है। पृथ्वी पत्थरके रूपमें, जमीनके रूपमें, सोना चाँदीके रूपमें, कैसे-कैसे ढंगसे इसका जन्म होता है?

संसारी प्राणियोंकी दयनीय दशास्थावरोंसे निकला तो त्रसमें दो इन्द्रियके भाव देख लो केंचुवा, जोक, शंख, कौड़ी, सीप, लट, सुरसुरी कैसे-कैसे भव मिले हैं? अब इन जीवोंमें सूक्ष्मतासे सबमें हड्डियाँ होती हैं, पर केंचुवा कुचल जाय तो हड्डीका पता ही नहीं चलता है। कैसा सूक्ष्म रूप उन हड्डियोंका बन गया, कैसा शरीर बन गया, ऐसा गंदा भव यह हुआ करता है। तीन इन्द्रिय जीव दो इन्द्रियसे कुछ अच्छा है सम्हला हुआ, शरीर है, कुछ कठोर है, कुछ पैर निकल आए हैं, चल फिर सकता है, कुछ विकास हुआ है जीवकी शरीर रचनामें, पर वे भी यत्र तत्र डोलते रहते हैं। खाने पीनेकी ही उनकी धुन रहती है। कुछ विवेक नहीं है, कुछ बुद्धिमानी की बात नहीं कर सकते हैं। चार इन्द्रिय जीवोंमें देख लो भौरा, मक्खी, मच्छर कैसी-कैसी परिस्थितियोंके ये भव हैं जिनकी मनुष्यकी दृष्टिमें कुछ कीमत ही नहीं है। जिनके पैर बाँधकर लोग खेलसे मन बहलाया करते हैं। भैया! पंचेन्द्रियमें देख लो कैसे-कैसे पशु-पक्षी पड़े हैं? समुद्रमें कैसे-कैसे ढंगके जीव हैं, ये सब कारणपरमात्मा हैं और इनकी ऐसी परिस्थिति है। कैसा मगरका शरीर, कैसा मच्छका शरीर, गैंडा, हाथी आदि कैसे-कैसे विचित्र शरीरवाले हैं। अज्ञानी नारकी मनुष्य देवका भी भव मिला तो भी क्या। ये ऐसे भयानक भव हैं, उप पर भवोंकी बात सोचकर जिसे भवसे निकलनेका मार्ग नहीं मिला है, आत्मस्वरूप परिचयमें नहीं आया ऐसे जीवोंको उन भवोंका बड़ा भय लगता है।

सम्यग्दृष्टिकी निर्भयतासम्यग्दृष्टि जीव चूँकि आत्मस्वरूपका सम्यग्ज्ञान बनाए हुए है, वह जानता है कि यह स्वरूप तो इस स्वरूप मात्र है। उसे इसमें कोई भय नहीं मालूम होता है। भयरहित ही है, ऐसा ज्ञायकस्वरूप अनुभवमें आए इनकी यह चर्चा है। और उनके लिए ही यह बात शोभास्पद होती है। जहाँ गए वहाँ यही तो आत्मा है, यही ज्ञानस्वरूप है। एक कोई बहुत बड़ा

आफीसर हो और उसका कहीं तबादला होनेको हो तो बड़े आफीसरको तबादलेके समय तबादलेका जैसा अनुभव भी नहीं होता है कि मेरा तबादला हो रहा है। नौकर यहाँ भी मिलते हैं और जहाँ जायगा वहाँ भी नौकर तैयार हैं। उसके जानेमें रेलगाड़ी का एक डिब्बा रिजर्व रहता है। नौकर-चाकर ही सब सामान रखें, कोयला धरें तो नौकर-चाकर, गायब-भैंसकी रक्षा करें तो नौकर-चाकर। उसको तबादलेका क्या दुःख है? छोटा आदमी तबादलेकी बात सुने तो उसे बड़ा दुःख हो जाता है। वहाँ मकान मिलेगा कि न मिलेगा। पहिले अकेले जावें, जब दो चार महीने जम लें तब सबको लिवा ले जायेंगे। समर्थ आफीसरके तबादलेमें कोई संकट नहीं है। वह जानता है कि जैसे यहाँ हैं तैसे ही वहाँ पहुँचेंगे। जैसा यहाँ लोगोंका सत्कार है तैसा वहाँ भी सत्कार है। तो ज्ञानी पुरुष जिसने अपने आपको केवल ज्ञानानन्दमय तका है उसका भी तबादला हो, मरण हो तो उसको भय नहीं रहता है। वह जानता है कि यह मैं पूराका पूरा तो अब यहाँसे जा रहा हूँ। ज्ञानमय स्वरूपपर दृष्टि हो और ऐसी दृष्टि रहते हुए कहीं अवस्थित हो, कहीं गति हो, उसे कोई क्लेश नहीं है, कोई भय नहीं है। भयका कारण परभव नहीं है। भयका कारण स्वरूपदृष्टिसे चिग जाना है।

भयका मूल स्वरूपच्युतिभैया! इस लोकमें मरण भी नहीं हो रहा, रोग भी नहीं आ रहे, खाने पीनेके संकट भी नहीं आ रहे और स्वरूपसे चिगा हुआ है तो उसको वहीं संकट है। मरणको ही संकट नहीं कहते हैं। स्वरूपसे चिगने की स्थितिको संकट कहते हैं। क्या मिलता-जुलता है परवस्तुवोंसे? पर कैसी खोटी बान पड़ी हुई है कि अपने स्वरूपके स्पर्शमें कुछ भी क्षण नहीं गुजार पाता और बाह्य पदार्थोंके उपयोगमें दौड़ा-दौड़ा फिरता है। ऐसे स्वरूपसे न चिगनेका दृढ़ संकल्प किए हुए इस ज्ञानी जीवके सम्बन्धमें कहा जा रहा है कि इसको परलोकका भय नहीं होता, किन्तु निःशंक होकर सतत स्वयं सहज ज्ञानका अनुभव करता है। यह सम्यग्दर्शनके निःशंकित अंगका वर्णन चल रहा है। किसी प्रकारकी सम्यग्दृष्टिको शंका नहीं रहती।

ज्ञानीका निःशङ्क निर्णयजिनेन्द्र भगवानके वचनोंमें शंका न करना, यह व्यवहार से निःशंकित अंग है और अपने स्वरूपमें शंका न करना, भय न मानना सो यह निश्चयसे निःशंकित अंग है। निशंकितता तभी रहती है जब किसी प्रकारका भय नहीं होता। आखिरी इसका निर्णय शुरूसे ही परवस्तुवोंमें यों रहता है कि कुछ बिगड़ता है बिगड़े, कोई वियुक्त होता है हो, परपरिणतिसे मुझमें कुछ बिगाड़ नहीं होता। प्राथमिक अवस्थामें यह ज्ञानी भले ही थोड़ी शंका करे, पर ऊपरी भय करने पर भी अंतरमें इसके सुदृढ़ निर्भयता है। ज्ञानी गृहस्थ है, सम्यग्दृष्टि है, वह सारी व्यवस्था बनाता है और अपने गुजारे के योग्य वस्तुवोंका संरक्षण भी करता जाता है पर ऐसी भी हालतमें यदि कहीं निर्णयकी जैसी बात आए तो वह यही निर्णय देता है कि परमें जो कुछ हो सो हो, उसकी परिणतिसे मैं अपना विनाश नहीं मान सकूँगा।

ज्ञानकी प्रियतमताके प्रसंगमें धन परिजनमें प्रियताकी छटनीसबसे अधिक प्रिय आत्माको ज्ञान होता है। अधिक प्रियपने का लक्षण यह है कि दो पदार्थोंको सामने रखो और इन

दोनों पदार्थोंके बिगड़नेका, नाश किया जानेका कोई अवसर आ रहा हो तो उन दो में से किसको बचाएँ? जिसको बचाएँ उसको समझो प्रिय है। जैसे धन और परिवार के लोग। यदि कोई डाकू आकर धन और परिवार दोनोंपर हमला करते हैं तो यह परिवार को बचानेका यत्न करता है और धनकी उपेक्षा करता है। मिट जावो तो मिट जावो धन, पर घरवालोंकी जान तो बचे। यदि ऐसा उद्यम करता है तो बतलावो कि उसको अधिक प्रिय धन हुआ कि कुटुम्बके लोग हुए। कुटुम्बी जन अधिक प्रिय हुए।

ज्ञानकी प्रियतमताके प्रसंगमें परिजन व स्वयंमें प्रियताकी छटनीयदि कुटुम्बीजनों पर और इस खुदपर कोई डाकू गुन्डा हमला करें तो ऐसी स्थितिमें प्रकृत्या वह अपनी जान बचानेका यत्न करता है। तो क्या कहा जायगा कि कुटुम्बी जन और खुद इन दोनोंमें प्रियतम कौन रहा? खुदका शरीर, खुदकी जान।

ज्ञानकी प्रियतमताजब ज्ञानकी उपादेयता साधुता जीवनमें आयगी तो अब वह जंगलमें अपनी समताकी सिद्धिमें लगा है। कोई शेर, स्यालनी या शत्रु साधुकी जान लेनेको आ रहा है तो उस समय दो प्रकारके प्राणोंपर हमला है द्रव्यप्राण और भावप्राण। एक तो शरीरकी जान याने द्रव्यप्राणीकी जानका हमला हो रहा है और साथ ही उसमें विकल्प रहे, राग रहे, मोह रहे तो ज्ञानस्वरूप भावप्राणके नाशका भी मौका है। जहाँ दोनों प्राण जा रहे हैं ऐसे अवसरपर वह ज्ञानी संत भावप्राणोंकी रक्षा करेगा और द्रव्यप्राणोंकी उपेक्षा कर देगा। जान जाती है तो जावो, पर अपनी ज्ञाननिधिका विनाश नहीं करता। क्योंकि ज्ञाननिधिका विनाश करके जान बचानेका यत्न किया और बचे या न बचे, पर उस यत्नके विकल्पमें जन्ममरणकी परम्परा बढ़ना निश्चित है। और एक ज्ञाननिधि बनी रहे और मरण होता हो होने दो, जान जाती है तो जाने दो। अब तक तो अनन्त बार जन्म किया है। ज्ञाननिधि बचा लिया तो जन्ममरणकी परम्परा ही खतम हो जायगी, ऐसा जानकर वहाँ भी द्रव्यप्राणोंकी उपेक्षा करता है और भावप्राणोंकी, चेतन प्राणोंकी, समतापरिणाम की रक्षा करता है। बतावो उन दोनोंमें कौन प्रिय रहा? चैतन्यप्राण, भावप्राण। वह भावप्राण है ज्ञान। अधिक प्रियतम ज्ञानस्वरूप ही रहा। जगतके कोई पदार्थ हमारे लिए हितकर और प्रियतम हैं नहीं।

परलोकका अर्थमर्मज्ञानी जीवका निसर्गतः ज्ञानस्वरूपकी ओर झुकाव रहता है। यह मेरा परलोक है, अथवा परलोक मायने उत्कृष्ट लोक। पर मायने उत्कृष्टके भी है। मेरा उत्कृष्ट लोक यह चैतन्य है। पहिले चिट्ठियोंमें लिखा जाता था कि अमुक लालका परलोक हो गया। परलोकके मायने दूसरे लोकमें चला गया यह मूलमें भाव न था, क्योंकि दूसरे लोकमें चला गया, इसमें क्या प्रशंसा हुई? यों तो सभी जीव मरकर दूसरे लोकमें जाते हैं। परलोकका अर्थ है उत्कृष्ट लोक। अब वे उत्कृष्ट लोकमें चले गए। परलोक शब्दकी बड़ी ऊँची व्याख्या है। यह परलोक स्वर्गलोकसे भी बड़ा है, स्वर्ग उत्कृष्ट नहीं है, परलोक उससे भी उत्कृष्ट हो सकता है। तो परलोक लिखनेकी पहिले प्रथा थी। स्वर्गलोक लिखनेकी प्रथा पहिले नहीं थी। जिन्हें पता होगा पुरानी चिट्ठियोंका वे लोग

जानते होंगे। तो परलोक मेरा क्या है? यह ज्ञानस्वरूप, यह मैं स्वयं ही परलोक हूँ, उत्कृष्ट हूँ। इस मुझ परलोकमें किसी भी परपदार्थसे कुछ बाधा नहीं आती। हम ही स्वरूपसे चिग जाते और अपने आपमें बाधा उत्पन्न कर डालते हैं।

ज्ञानामृतके अनुभवका भाजननिज-निज स्वरूपास्तित्वके दृढ़ किलेमें अवस्थित पदार्थोंको निरखने वाले सम्यग्दृष्टि पुरुष इहलोकका भी भय नहीं करते और परलोकका भी भय नहीं करते। वे तो निःशंक होते हुए सतत स्वयं सहज ज्ञानस्वरूपका ही अनुभव करते हैं। यह ज्ञान ही तो अमृत है। जो न मरे सो अमृत। न मृतं इति अमृतं। ऐसा कौन है जो न मरे? वह आत्माका सहज ज्ञानस्वरूप है। इसका कभी विनाश नहीं होता। सो ज्ञानी पुरुष इहलोक और परलोकके भयको नहीं करता और सतत इस ज्ञानका पान किया करता है। जिन्हें अपने आत्माका अनुभव करनेका यत्न करना हो सीधा यह यत्न करना चाहिए, अपने आपके बारेमें अपनेको यों निरखना चाहिए कि यह ज्ञानमात्र है। अन्य-अन्य रूपमें इसे न निरखो, किन्तु जाननस्वरूप, ज्ञानका जो स्वरूप है उसे अपनी दृष्टिमें लो और वही-वही स्वरूप ही नजरमें, अनुभवमें लानेका यत्न करो, और कुछ बात सोचो। तो केवल ज्ञप्ति स्वरूपके द्वारसे इसे ज्ञानानुभव होगा। और जो शुद्ध ज्ञानका अनुभव है शुद्ध अर्थात् केवल मात्र जाननका अनुभव है वही आत्माका अनुभव है। ज्ञानानुभवके द्वारसे ही आत्मा का अनुभव हो सकता है। यह ज्ञान निःशंक सतत इस सहज ज्ञानका अनुभव करता है और दोनों लोकोंके भयसे दूर रहता है।

वेदनाभयके निषेधके प्रसंगमें वेदना शब्दकी निरुक्तिआजके प्रकरणमें यह बताया जा रहा है कि सम्यग्दृष्टि जीवको वेदनाका भय नहीं रहता। अज्ञानी जन इस शरीरको अपना सर्वस्व मानते हैं। इस शरीरमें थोड़ा बुखार आदि हरकत होनेपर शरीरके अहन्त्व भावके कारण अपनेमें पीड़ाका अनुभव करते हैं। जैसे-जैसे शरीरमें अहंबुद्धि ममबुद्धि तथा सम्बन्ध बुद्धि छूट जाती है वैसे ही वैसे जीवकी शरीरकी अवस्थावोंके कारण पीड़ा उत्पन्न नहीं होती। सुकुमार, सुकौशल, गजकुमार इत्यादि अनेक ऋषियोंने अनेक उपद्रव सहे, पर उन उपद्रवोंके बीच उनके शरीरके प्रति अंहबुद्धि न थी इस कारण उन्होंने पीड़ा अनुभव न की। यह सामान्यतया सम्यग्दृष्टि जीवका विचार चल रहा है। वह जानता है कि वेदना तो यह ही एक मात्र है जो निश्चल ज्ञानस्वरूप स्वयं वेदा जाता है। वेदना कहते हैं जो वेदा जाय। तो जाननेमें परमार्थतः ज्ञानस्वरूप ही आता है।

वस्तुकी स्वतन्त्रताभैया! जानना ज्ञानगुणका काम है, और ज्ञानकी क्रिया ज्ञानगुणको छोड़कर अन्य वस्तुपर नहीं लगती है। ज्ञान जो कुछ करेगा वह ज्ञानका ही करेगा, परवस्तुका कुछ नहीं करता। ज्ञान परवस्तुका कुछ कर देता है यह सोचना अज्ञान है। करनेकी बुद्धिका ऐसा अंधकार अज्ञानमें छाया रहता है कि यह नहीं देखा जा पाता कि प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, परिणमनशील है, वह अपने आपमें ही अपनेको कुछ परिणमा सकता है। किसी अन्य पदार्थका कुछ नहीं करता है। भले ही आगका निमित्त पाकर पानी गर्म हो गया पर आगने पानीका कुछ नहीं

किया। भले ही सूर्यका निमित्त पाकर यह उजेला हो गया पर सूर्यने कमरेमें घुसकर कुछ नहीं किया। इस प्रकाशमय वातावरणमें हम आपके शरीर का निमित्त पाकर यहाँ यह छाया परिणम गई, फिर भी इस शरीरने छाया परिणामी हुए जगहमें कुछ नहीं किया। यह विभाव, विकार निमित्त बना होता नहीं है और निमित्त इसे करता कुछ नहीं है ऐसे यथार्थता की बात बड़े विवेकके साथ समझी जा सकती है। यह हुआ एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके प्रति कथन।

एक वस्तुमें गुणोंका स्वतन्त्र स्वतन्त्र स्वरूपभैया! अब अभेद विवक्षाको एक आत्मद्रव्यमें ही देखो इसमें अनन्तगुण भरे हुए हैं। वे समस्त अनन्त गुण केवल अपनी अपनी क्रियाएँ करते हैं। दूसरे गुणोंपर उनकी क्रिया आ जाय तो फिर गुण भेद ही क्या रहा? जाननकी क्रिया यदि सुख गुण करने लगे तो फिर ज्ञान गुण माननेकी जरूरत क्या रही? और इस प्रकार सुख गुण औरोंको भी क्रिया करने लगे तो सभी गुणोंका अभाव हो गया। और और गुण सुखकी क्रियाएँ करने लगें तो सुखका अभाव हो गया। प्रत्येक गुण मात्र अपनी ही क्रियाएँ करता है दूसरे गुणकी क्रिया नहीं करता है। आत्मामें ज्ञान गुण है वह जाननेका ही काम करेगा और अपने गुणोंकी परिणतिसे ही जाननका काम करेगा, दूसरेमें नहीं। इस तरह जानना जो होता है वह ऐसे ज्ञानका ही जानन होता है।

परज्ञातृत्वके मन्तव्यका अवकाशभैया! जाननने क्या किया, निश्चयसे बतावो। जाननमें जाननही आया। पर जाननमें जो आकार झलका, जो बाह्य अर्थका ग्रहण हुआ विषय बना उसपर दृष्टि पहुँचती है और इस दृष्टिमें यह मोही, यह अज्ञानी यह कहता है कि मैंने मकान, घर दूकान जान लिया आदि, पर जानता कोई किसी अन्यको अन्य नहीं है। सब अपने आपको ही जानते रहते हैं। दूसरेको कोई नहीं जानते हैं। दूसरेकी तो बात दूर रही, अपने आत्मामें जो अनन्तगुण हैं उन गुणोंमें से ज्ञानगुण केवल ज्ञानको ही जानता है, अन्य गुणोंको नहीं जानता, अन्यत्र क्रिया नहीं करता उपादान रूपसे एक बनकर, हाँ विषय सब होते हैं। ज्ञानके विषयमें जैसे ये बाह्यपदार्थ आ रहे हैं इसी प्रकार ज्ञानके विषयमें आत्माके ही दर्शन चारित्र सुख आदि गुण आते हैं। तो जैसे ज्ञानके ज्ञेय ये बाह्यपदार्थ बनते हैं इसी प्रकार ज्ञानके ज्ञेय आत्माके अन्य गुण भी बनते हैं।

ज्ञानकी ज्ञानमें गतिकी परमार्थताइस आत्माके द्वारा क्या वेदा जाता है, क्या अनुभवा जाता है, इसकी चर्चा चल रही है। ज्ञानके द्वारा परद्रव्योंको नहीं अनुभवा जाता, किन्तु ज्ञानके द्वारा स्व ही अनुभवा जाता है। पर द्रव्य ज्ञानके विषय होते हैं तो विषयके लक्ष्य करने वाले लोग प्रायः ज्ञानकी क्रियाका उपचार करते हैं। मैंने किवाड़ जाना। अरे मैं यहाँ रहता, अपने प्रदेशमें बैठा, मेरा कार्य कहीं मेरेसे बाहर हो जायगा? किसी भी द्रव्यकी क्रिया उस द्रव्यके बाहर नहीं होती है। फिर मेरा ज्ञान किवाड़में कैसे चला गया? और सब लोग कहते हैं, निषेध किया जाय तो सब लोग झूठ मानेंगे। सारी दुनिया तो जानती है कि हमने घर जाना, किवाड़ जाना और मना किया जा रहा है कि आत्मा किसी परद्रव्यको जानता ही नहीं। अचरज होता है, किन्तु अब युक्ति ओर विवेकका आश्रय लेकर आगे बढ़िये, तब यह बात स्पष्ट हो जाती है जब इस पुद्गलको देखते हैं तो पुद्गलकी

क्रिया पुद्गलमें ही होती है, किसी अन्य द्रव्यपर नहीं होती है। यह बात बहुत स्पष्ट ज्ञानमें आती है। एक ज्ञान ही ऐसा गुण है जिसका संदेह होने लगता है कि ज्ञान परद्रव्योंमें क्यों न जाना चाहिए? यह भी ज्ञानकी ही महिमा है।

आनन्द गुणकी परिणतिका आधारभैया! अन्य गुणोंके भी कामकी बात देखो आनन्दगुण आनन्दपरिणमन करता है। क्या मेरा आनन्दगुण आपके आनन्दका परिणमन कर सकता है? कभी नहीं कर सकता है। इसमें भी मोही जनोंको संदेह हो सकता है। देखा तो जाता है कि पिता पुत्रको सुखी करता है। अमुक अमुको आनन्द देता है, फिर कैसे मना किया जा रहा है? इसमें भी संदेह मोही जनोंको हो सकता है, पर ज्ञानकी अपेक्षा आनन्दकी स्वतंत्रता जरा जल्दी समझमें आ सकती है, हम अपने आनन्दका ही परिणमन किया करते हैं, दूसरे जीवोंके आनन्दका परिणमन नहीं कर सकते। मुझमें शक्ति नहीं है कि मैं किसी दूसरे द्रव्यमें कुछ कर दूं।

श्रद्धा गुणकी परिणतिका आधारऔर भी गुण ले लीजिए। श्रद्धा है, मायने विश्वास करना है। हम अपने आपका श्रद्धान बना सकते हैं या दूसरे जीवोंका श्रद्धान बना सकते हैं? यह आनन्दगुणकी अपेक्षा और जल्दी समझमें आयगा। इसकी भिन्नतासे हम मात्र अपने आपमें आपका श्रद्धान कर सकते हैं, दूसरे जीवोंके श्रद्धानका परिणमन हम नहीं बना सकते। तभी तो बहुत-बहुत समझाना पड़ता है अजी आप विश्वास रखो ऐसा ही होगा। आपको विश्वासमें कमी नहीं करना है। फिर भी दूसरा हिचकिचताा है। जब तब उसका श्रद्धान अपने आपमें विश्वासरूप नहीं परिणम जाता है तब तक हिचकिचाता रहता है। आत्मामें श्रद्धा गुण है और उस श्रद्धागुणका कार्य अपने आपके आत्मामें होता है, परपदार्थोंमें नहीं होता है। इसी तरह आनन्दगुगणका कार्य अपने आपमें होता है किसी परमें नहीं होता है। इस प्रकार ज्ञानगुणकी क्रिया अपने ही ज्ञानगुणमें होती है, न अपने अन्य गुणमें होती है और न अन्य द्रव्यमें होती है। ज्ञानकी क्रिया है जानन। जानन किसी परवस्तुके लिए नहीं होता। जानन अपने द्वारा होता है, अपने लिए होता है, अपनेमें होता है।

पदार्थके सत्वका प्रयोजनभैया! एक बात विशेष यह जानना है कि ये द्रव्य सब क्यों हैं, इनकी क्या जरूरत है? ये द्रव्य होकर अपना कौनसा मतलब साध रहे हैं? न होते तो क्या था? तो यह प्रश्न तो उठता नहीं कि ये द्रव्य न होते तो क्या नुक्सान था, क्योंकि ये हैं, अब हैं तो यह देखिए कि ये क्यों हैं, औरह ये द्रव्य अपना सत्व रखकर अपना कौन-सा प्रयोजन साध रहे हैं? तो एक नियम है कि परद्रव्योंका काम परिणमन उत्पाद व्यय अपना सत्व रखनेभरके लिए होता है, उनका कोई दूसरा प्रयोजन नहीं। पदार्थ सब परिणमते हैं। वे सब अपना सत्व बनाए रहनेके लिए परिणमते हैं, इससे आगे उनका प्रयोजन नहीं है। सो पुद्गलकी यह बात जल्दी समझमें आ जाती है। ये पुद्गलद्रव्य हैं, इनका प्रयोजन अपने आपकी सत्ता बनाए रहना है और कुछ नहीं है। ये अपने आपसे बाहर अपनी कुछ हरकत नहीं करते। इनका और कोई प्रयोजन नहीं।

सत्त्वके प्रयोजनके कुछ उदाहरणईंधन पड़ा है, जल जाय तो जल जाय। उस ईंधन का यह प्रयोजन नहीं है कि जलूं नहीं, ऐसा ही बना रहूँ। पुद्गल है, जो होगा सो होगा। उसे क्लेश नहीं होता है। परिणम गया, राख बन गया, पर सत्व नहीं छोड़ा। पुद्गलके परिणमनका प्रयोजन अपनी सत्ता कायम बनाए रहना है। और क्या प्रयोजन है? यह घड़ी क्रिया कर रही है, क्या इसका यह प्रयोजन है कि सबको समय बताकर परोपकारशील बनी रहे, यह प्रयोजन घड़ीका नहीं है। इसे तो अपनी क्रिया करने भरका प्रयोजन है। हम आप देख लें तो देख लें, न देखें तो न सही। प्रत्येक पदार्थ परिणमते हैं। उनका प्रयोजन किसी को दुःखी अथवा सुखी करनेका नहीं है। वे मिले हैं तो सुखी करनेके लिए नहीं मिले हैं और बिछुड़ते हैं तो दुःखी करनेके लिए नहीं बिछुड़ते हैं। उन पदार्थोंका प्रयोजन अपनी सत्ता कायम रखना है और अन्य प्रयोजन नहीं है। और सत्ता कायम रखना भी कोई बुद्धिपूर्वक प्रयोजन नहीं है। वस्तुका सत् सदा प्रयोजक है। पदार्थका प्रयोजन मात्र अपनी सत्ता रखना है। ये अपने नानारूप परिणमते रहते हैं। उन सब परिणमनोंका प्रयोजन अपनी सत्ता बनाए रहना है, और कुछ नहीं है।

प्रत्येक गुणकी प्रतिक्षण भावक्रियाशीलतासत्वके परमार्थप्रयोजनके अतिरिक्त सब मोहकी कल्पना है, इन्द्रजाल है। इन्द्रजाल किसे कहते हैं? इन्द्र मायने आत्मा और जाल मायने मायावी रूप। यह जो हम आप सबका झमेला है वह सब इन्द्रजाल है। यह सब मोहकी कल्पना भर है पर परमार्थ प्रयोजन नहीं है। और विशेषतासे चलो तो प्रत्येक गुण का प्रयोजन चूँकि विशेषता लेकर कहा जा रहा है, अपनी-अपनी क्रिया करना है, कोई सत् खाली नहीं रहा सकता। जो बड़ा काम करने वाला पुरुष है वह निरन्तर काम करता रहता है और जो महाआलसी पुरुष है वह भी निरन्तर काम करता रहता है। कर्मठ पुरुष अपने मन, वचन, कायकी तरह तरहकी चेष्टाएँ करके काम करता है तो प्रमादी पुरुष का मन क्या खाली रहता है? विकल्प नहीं करता है क्या? मनका काम बराबर चलता रहता है। शरीरका कार्य प्रतिसमय चल रहा है। रूप, रस, गंध, स्पर्शका प्रतिसमय परिणमन चल रहा है। ओर अपनेमें ही जगतके बीचमें दौड़ लगाए जा रहा है। खूनका खूब दौड़ हो रहा है मुर्दा है तो बन ही नहीं सकता। पर प्रत्येक जीव निरन्तर कुछ न कुछ काम करता है।

प्रत्येक गुणका अपना-अपना स्वतंत्र कार्य व प्रयोजनइस जीवमें भेदरूपसे गुणोंको देखें तो प्रत्येक गुण निरन्तर अपना कार्य कर रहा है। ज्ञानकी क्रिया जानना है। सो ज्ञान जानता रहता है। श्रद्धाकी क्रिया कुछ न कुछ विश्वास बनाए रहती है सो प्रत्येक जीवमें देखो कुछ न कुछ विश्वास बना हुआ है। आनन्दगुणका काम आनन्दकी किसी अवस्थारूप परिणमना है। सो देख लो कोई जीव दुःखरूप परिणम रहा है, कोई सुख रूप परिणम रहा है, वह भी तो आनन्द गुणका परिणमन है। और कोई आनन्दरूप ही परिणम रहा है तो वह आनन्दगुणक परिणमन हैं। यह ज्ञान जाननरूप परिणमता है। और इसके जाननेका प्रयोजन क्या है? यह ज्ञान जानन क्यों करता है? जाननके लिए

जानता रहता है। इस ज्ञानका जाननसे अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नहीं है। विषय साधना, रागद्वेष करना ये प्रयोजन ज्ञानके नहीं हैं। ज्ञानकी क्रिया होती है वह जानकर समाप्त हो जाती है, जाननसे आगे नहीं बढ़ती है। शरीरमें कुछ बुखार फोड़ा आदि हरकत हो रहे हों, उस समयमें यह जीव जानता है। किसे जानता है? ज्ञानको जानता है। सम्यग्दृष्टि जीवकी विचारधारा चल रही है। ज्ञानी संत पुरुष समझ रहा है कि यह वेदना क्या चीज होती है और किसलिये होती है?

परमार्थतः वेदनाका दिग्दर्शनयह वेदना भयका प्रकरण है कि सम्यग्दृष्टि जीवके वेदनाका भय नहीं होता। वेदना यह ही है कि जो अचल ज्ञान स्वयं वेदा जाता है। ज्ञान अन्यको वेद ही नहीं सकता। अहंत्व बुद्धि रखकर राग भावके कारण कल्पना करता है कि मैं ठंडा हो गया, मुझे बुखार आ गया। मेरेमें धौंकन हो रही। रागवश यह अनुभवा जाता है। परमार्थतः यह जीव अपने ज्ञानको ही वेद रहा है। जैसे आम चूसते हुएमें यह जीव आमके रसका अनुभवन नहीं कर सकता। कल्पना करता है कि मैंने आमके रसका स्वाद लिया, चूस लिया, पर वस्तुतः आमके रसविषयक ज्ञानको करता है, उसके साथ राग लगा है इस कारण उस प्रकारका सुख परिणमन करता है और साथमें अज्ञान लगा है इसलिए आमकी ओर आकृष्ट होता है। और समझता है कि मैंने आमसे सुख पाया। यह जीव आमके रसका अनुभव नहीं कर सकता। आमके रसविषयक ज्ञानका अनुभव करता है। यह जीव शरीरकी पीड़ाका अनुभव नहीं कर सकता, शरीरविषयक हरकतोंके ज्ञानका अनुभव कर सकता है। साथ ही राग लगा हो तो संक्लेशरूप परिणमन बन जायगा, पर शरीर की वेदनाको यह जीव नहीं जानता है।

अनाकुल वेदनाजीवको केवल एक यह वेदना होती है जो यह अचल ज्ञान स्वयं वेदा जाता है। किस प्रकार वेदा जाता है? अनाकुलरूप होकर वेदा जाता है। आकुलरूप होकर तो परपदार्थ ही लक्ष्यमें आयेंगे, स्वपदार्थ न आयगा। अनाकुल होकर ही यह विश्वास जमेगा कि तो यह मैं तो केवलज्ञानको ही वेदा करता हूँ, अन्य किसीको नहीं जानता। ऐसा ज्ञान कैसे हो जाता है? जब यह वेद्य-वेदक भावको निर्भेद करता अर्थात् जानता हुआ भाव और जानने वाला भाव इनको निर्भेद रूपसे जानता हो। ज्ञान और ज्ञेयका भेद नहीं उठता ऐसी स्थितिमें अनाकुल होकर इस सम्यग्दृष्टि जीवका जीवन यह एक अचल ज्ञान स्वयं वेदा जाता है। ऐसा अनुभव होनेके बाद उसकी यह दृढ़ श्रद्धा होती है कि बाह्य पदार्थोंसे तो वेदना ही नहीं आया करती है।

एकक्षेत्रावगाहितामें भी पृथक्त्वजैसे घरमें रहते हुए घरके किसी कुटुम्बमें मन न मिले तो घरमें रहते हुए भी आप न्यारे माने जाते हैं। जब प्रीति नहीं है, मन ही नहीं मिलता है, मुख मोड़े रहते हो तो घरमें रहते हुए आप न्यारे हो रहे हैं। ऐसे ही यह शरीर और जीव एक क्षेत्रावगाहमें है। जिस आकाशवृत्तिमें जीव है उसी आकाशवृत्तिमें शरीर है और जिस निज क्षेत्रमें आत्मा है उसके साथ-साथ यह शरीर है, फिर भी यह आत्मा इस शरीरसे प्रेम नहीं कर रहा, इसका मन ही शरीरमें नहीं रहा, शरीरसे उपेक्षा करता है, अपने ज्ञानस्वरूप परिणमन रूप हितकी धुनमें रहता है तो यह

तो शरीरसे जुदा ही है, अथवा जैसे एक पुत्रसे मन नहीं मिल रहा है, पुत्रसे आप जुदा हैं और एक दिनको कहकर दालानमें ठहरा हुआ मुसाफिर है उससे मन नहीं मिल रहा है, जुदा है, इसी तरह ये जुदा-जुदा हैं। उस ही एक क्षेत्रावगाहमें अनेक पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल पड़े हुए हैं जिनका कि बँधन कुछ नहीं है। उनसे भी इस ज्ञानीका मन नहीं मिल रहा है और निमित्तनैमित्तिक बँधन रूप पड़े हुए इन शरीर अणुवोंसे भी मन नहीं मिल रहा है, यह ज्ञानी उन समस्त परपदार्थोंसे जुदा है। तो इस मुझ आत्मासे अत्यन्त जुदा जो शरीर है या अन्य भी कोई द्रव्य हो उसके इसकी वेदना ही नहीं है, तो फिर ज्ञानी जीवके शरीरादिक अन्य पदार्थों का भय कैसे हो सकता है?

शरीरवेदनाभयके अभावका एक उदाहरण—भैया! देखो पुराण समयमें कैसे-कैसे पुरुष हो गए सनत्कुमार, चक्रवर्ती मुनि अवस्थाके बाद पूर्व कर्मोदयवश जब उनके कोढ़ निकल आया तो एक देवने आकर उनकी परीक्षा करना चाहा कि इनकी बड़ी प्रशंसा सुनी जा रही है कि अपनी श्रद्धामें, आचरणमें, लगनमें बड़े पक्के हैं सो देखें तो सही। वह देव वैद्यका रूप बनाकर सड़कपर चलता हुआ वह पुकारता जाये कि मेरे पास कोढ़की पेटेण्ट औषधि है इस औषधिके लगाते ही सारा कोढ़ समाप्त हो जाता है। पुकारता हुआ वह साधु महाराजके पास पहुँच गया, बोला कि महाराज! आप संतपुरुष हैं, क्या हम आपकी थोड़ी सेवा कर सकते हैं? साधु महाराजने कहा कि हमें इस कोढ़की परवाह नहीं है हमें तो जन्म मरण और भव रोग मिटाने की परवाह है, अगर तुम मेरे आंतरिक रोग मिटा सको तो हम तुम्हारी सेवा लेनेको तैयार हैं। वह देव चरणोंमें गिर गया, बोला महाराज उस रोगके वैद्य तो आप ही हैं। हम जैसे किंकरोंसे यह कहाँ बन सकता है? भयानक उपसर्गोंके भयानक रोगोंके प्रतिकारकी वाञ्छा न की जाय, यह किसी विशेष बल पर ही तो सम्भव है। वह विशेष बल है ज्ञानका।

ज्ञानबलका प्रताप—निज ज्ञानस्वरूपके अनुभवका बल, समस्त परवस्तुवोंसे पृथक् ज्ञानमात्र अपनेके अनुभव कर चुकने का बल, जिसके यह दृढ़ संकल्प रहता है कि परवस्तु किसी भी रूप परिणमे उसके किसी भी परिणमनसे यहाँ रंच भी प्रभाव नहीं पड़ता है। यदि मैं ही अपने आपका परिणमन करूँ तो अपने आप प्रभावित होता हूँ, दूसरे पदार्थोंसे मैं प्रभावित नहीं होता, ऐसा वस्त्र स्वातन्त्र्यका भान सम्यग्दृष्टि पुरुषके होता है। जब अन्य पदार्थोंसे इस आत्मतत्वमें कोई वेदना ही नहीं आती तो पर-वेदनाका क्या भय? ज्ञानी जीव ऐसा जानता हुआ निःशंक रहता है। कुछ थोड़ीसी तबियत खराब होनेपर बड़ी खराब तबियतका नक्शा खींच लिया जाता है और मोही जीव दुःखी होता है, यह न जाने अन्य रूप रखले फिर क्या होगा?

ज्ञानीके अनागत व आगतभयका अभाव—भैया! जितना डर सामने आई हुई विपत्तियोंका नहीं होता उतना डर अपने विकल्पोंमें आने वाली विपत्तियोंका होता है। दरिद्रता कदाचित आ जाय उसमें अपना जीवन काट लेगा, मगर विकल्प ऐसा हो जाय कि यदि हमारा नुक्सान हो गया तो फिर कैसे गुजारा होगा? उसमें पीड़ा अधिक होती है। गुजर जाय कोई इष्ट तो वह सह लेगा, पर

विकल्प आ जाय तो उसकी बड़ी पीड़ा मालूम होती है। नरकगतिके दुःख यह जीव सह लेता है, सहते ही हैं, सहनेके आदी हो जाते हैं, पर यहाँ नरकगतिसे दुःखोंका जब वर्णन सुना जाता है तो दिल कांप जाता है। ओह कैसे कैसे दुःख नरकमें भोगे जाते हैं? तो यह विकल्पोंका दुःख बड़ा कठिन दुःख होता है। ज्ञानी जीवके विकल्प ही नहीं होता है। इसलिए उसके ऐसी बात भी उपस्थित नहीं होती है। वह जानता है कि अपने स्वरूपास्तित्वके दृढ़ किले से गढ़ा हुआ यह मैं किसी अन्यके द्वारा बाधित नहीं हो सकता। इस शरीरादिसे वेदना ही नहीं उत्पन्न होती। अतः निर्भय और निःशंक होता हुआ यह ज्ञानी पुरुष स्वयं सदा सहज ज्ञानस्वभावका ही अनुभव किया करता है।

ज्ञानीके अत्राणभयका अभावज्ञानी पुरुषको भय नहीं रहता है, इस प्रकरणमें आज अत्राणका भय ज्ञानी पुरुषको नहीं रहता है इसका वर्णन होगा। जो पदार्थ सत् है वह नाशको प्राप्त नहीं होता है। वह वस्तुकी स्थिति है। जो सत् है वह सत्के कारण अविनाशी हुआ करता है। यहाँ उसका सर्वथा अभाव कैसे किया जा सकता है? चाहे पानी का हवा हो जाय, हवाका पानी बन जाय फिर भी सद्भूत तत्व तो रहता ही है। सत्का कभी अभाव नहीं होता। ज्ञान स्वयं सत् है। यहाँ ज्ञानके कहनेसे ज्ञानमय द्रव्यको ग्रहण करना चाहिए। यह ज्ञानमय आत्मत्व स्वयमेव सत् है, फिर दूसरे पुरुषोंसे इसकी क्या रक्षा कराना है? अज्ञानी जीवको यह भय रहा करता है कि मेरी रक्षा हुई या न हुई। मेरी रक्षा किससे होगी? पराधीन भाव वह बनाए रहता है, परोन्मुख रहता है। ज्ञानी सोचता है कि इसका तो कभी नाश ही नहीं होता, क्योंकि यह सत् है, फिर दूसरेसे क्या रक्षाकी याचना करना? अतः ज्ञानीके अत्राणका भय नहीं होता।

स्वरक्षाके प्रति ज्ञानीकी दृढ़ धारणाइस ज्ञानका अरक्षा करने वाला कुछ भी नहीं है। है कोई ऐसा पदार्थ जो इस ज्ञानमय सत्का अभाव कर डाले? जो सत् है वह सत् ही रहेगा। किसी भी सत्को कुचलकर, पीटकर, जलाकर क्या अभाव किया जा सकेगा? नहीं। पुद्गल घाटे पीटे जा सकते हैं तिन तकका तो अभाव है नहीं, फिर जो अमूर्त है, ग्रहणमें नहीं आता ऐसे इस चैतन्य सत्के अभावकी क्या कल्पना की जा सकती है? इसकी किसी भी पदार्थसे अरक्षा नहीं है। कदाचित् मरण भी हो जाय तो भी यह अरक्षामें नहीं है। इसका नाता शरीरसे नहीं है। आत्माका नाता अपने स्वरूपसे है, जिससे इसका सम्बन्ध है उससे यह कभी अलग नहीं होता। इतना ही तो ज्ञानी और अज्ञानीका अन्तर है। अज्ञानी का आत्मा शरीरसे सम्बन्ध जोड़ता है और ज्ञानीका आत्मा शरीरसे पृथक् अपने स्वरूप सर्वस्व रूप अपनेको तका करता है। शरीर भी छूट जाय तब भी मैं स्वरक्षित हूँ। यहाँसे कहीं भी चला जाऊँ तब भी मैं स्वरक्षित हूँ। इसकी अरक्षा नहीं हो सकती है। फिर ज्ञानी जीवको भय कहाँसे हो? वह निःशंक होता हुआ सतत् सहज ज्ञानका ही अनुभव करता है।

किसीके द्वारा किसी दूसरेकी रक्षाकी असंभवतावैसे तो लौकिक अरक्षाकी दृष्टिसे भी देखो तो उदय लौकिक रक्षाके योग्य है, पुण्य है तो लौकिक अरक्षा भी कोई नहीं कर सकता। और कभी न रहा इतना पुण्य तो लौकिक अरक्षामें स्वयं पहुँच जायगा। परमार्थसे तो रक्षा है पवित्र भाव,

स्वभावदृष्टिका स्वालम्बनका भाव और अरक्षा है परालम्बी भाव। सो स्वावलम्बी भाव रहते हुएके अरक्षाका कोई प्रश्न ही नहीं होता। वह तो स्वयं अरक्षित है। परावलम्बी भावमें तो मूढ़ जीव स्वयंकी भी रक्षा नहीं कर सकता है, दूसरेकी तो बात ही क्या है? दूसरेतो कदाचित् भी दूसरेकी रक्षा नहीं कर सकते हैं।

परसे परकी अरक्षाका एक उदाहरणएक पौणाकि कथा है कि देवरति राजा अपनी रानी रक्तामें रत थे। सो राज्यकी प्रजा व मंत्रियोंने राजासे कहा कि महाराज या तो राज्यका प्रबंध कीजिए या राज्यको छोड़ रानीको लेकर चले जाइए। हम सोसाइटीके लोग राज्यका प्रबंध करेंगे। उसे राज्य मंजूर न हुआ तो रक्ता रानीको ले जाकर राज्य छोड़कर चल दिया। दूसरेके राज्यमें एक शहरके किनारे वे दोनों एक दो दिनको ठहर गए। वहाँ राजा तो गया था शहरमें कुछ सामान लेने और वहाँ खेतपर एक चरस हांकने वाला कुबड़ा, लंगड़ा चरस हांक रहा था। और अच्छा सुरीला गाना गा रहा था। रानी गायनकी बड़ी शौकीन थी। तो उसे वह गायन सुहा गया। और उसके पास जाकर उससे रानी बहुत कुछ कहने लगी कि तुम घर छोड़कर हमारे संग चलो तो कूबड़ा बोला कि तुम तो राजाकी रानी हो, राजा सुनेगा तो हमारा भी सिर छेद करेगा और आपका भी सिर छेद करेगा। रानी बोली कि तुम कुछ परवाह न करो। अब वह उदास होकर बैठ गई। राजाने पूछा कि क्या बात है? रानीने कहा कि आज आपकी वर्षगांठ का दिन है। तुम राजमहलमें होते तो बड़े सिंहासनपर बैठाकर आपका समारोह मनाती। यहाँ जंगलमें क्या करें? राजा बोला कि जो चाहो सो कर सकती हो। रानीने कहा कि अच्छा फूल मंगावो, डोरा मंगावो। राजाने फूल व डोरा मंगा लिया। अब रानीने मोटे धागेमें फूलोंके हार १०-१५ बनाये और कहा कि यहाँ महल तो है नहीं, यह पर्वत है सो उस पर्वतकी चोटीपर चलो, मैं आपका समारोह करूँगी। चढ़ गए दोनों उस पहाड़ीकी चोटीपर। वहाँपर राजाको बिठाकर चारों ओरसे बाँध दिया और जब देख लिया कि अब राजा पूरे बँधनमें आ गया तो वहाँसे धक्का लगा दिया। अब वहाँसे लुढ़कते-लुढ़कते राजा कहीं पहुँचा हो।

कुबुद्धिका नाचरक्ताको क्या मालूम कि राजा कहाँ गिरा है? वह तो खुशीसे नीचे आई और कुबड़ेको लेकर चल दी। पेट तो भरना ही है, सो एक चौड़ी डलिया लिया जिसमें बच्चे झूलते हैं। उस डलियामें कूबड़ेको बिठाकर सिरपर रखकर जगह-जगह जाये। यह रक्ता नाचे, कुबड़ा गाये, जो कुछ मांगनेसे पैसे मिलें उनसे दोनों अपना पेट भरें। उधर देवरति राजा लुढ़कते हुए नदीमें जा गिरे और उसमें बहकर किसी देशके किनारेमें जा लगे। उसी समय उस देशका राजा मर गया था, सो मंत्रियोंने एक गजराज हाथीकी सूँडमें माला डालकर छोड़ दिया और यह तय किया कि यह हाथी जिस किसीके गलमें यह माला डाल देगा उसे राजा बनाया जायगा। उस हाथीने घूम फिरकर उस देवरतिके गलमें वह माला डाल दी। अब तो देवरति राजा हो गया। उधर रक्ता अपने सिरपर डलिया रखे और उस पर कूबडेको बिठाये घूम फिर रही थी और यह प्रसिद्ध कर रही थी कि मैं पतिभक्त हूँ। दोनों घूमते फिरते राजदरबारमें पहुँचे। रक्ताको क्या मालूम कि वह राजा यहाँका राजा बन गया

होगा? उसे तो यही मालूम था कि वह राजा मर गया होगा। वहाँ भी रक्ता नाचे और कुबड़ा गाए। ऐसा देखते ही देवरतिको वैराग्य हो गया कि ओह कर्मोंका उदय ऐसा है।

लोकमें स्वकर्मानुसार रक्षाका एक दृष्टान्त एवं सर्व सत्की स्वयं सुरक्षाभैया! जिसका उदय अच्छा है उसके स्वयमेव रक्षाका प्रयत्न बन जाता है। श्रीपालको धवल सेठने समुद्रमें गिरा दिया, श्रीपाल किसी लकड़ी या किसी अन्य चीजका सहारा पाकर किनारे पहुँच गए। उस राज्यके राजाका यह वचन था कि जो इस समुद्रको तैरता हुआ किनारे आए उसे आधा राज्य देंगे और अपनी लड़की की शादी कर देंगे। इस कथाको सभी जानते हैं। तो जिसका उदय अच्छा है उसकी रक्षा स्वयमेव हो जाती है। जिसका उदय खोटा है उसकी दूसरा कौन रक्षा करेगा? खोटे लोग अपनी कल्पनामें अरक्षित हैं फिर भी पदार्थोंके स्वरूपकी ओरसे उदय खोटा हो तो, अच्छा हो तो, इस चेतन वस्तुका नाश कभी नहीं होता। किसी भी परिस्थितिमें यह चेतन रहे रक्षित है। चेतनकी ही बात क्या, प्रत्येक पदार्थ रक्षित है। किसीका कोई क्या बिगाड़ करेगा, वे नष्ट हो ही नहीं सकते। सत्का स्वयं सिद्धि अधिकार है कि डट कर बने रहना। कैसा भी आक्रमण हो, कैसा भी संयोग वियोग हो, फिर भी कोई सत् अधूरा नहीं रहता। पूर्ण सत् बराबर रहा करता है। जो सत् है वह कभी भी नाशको प्राप्त नहीं होता। और यह ज्ञान स्वयं सत् है। इस ज्ञानको धर्मीकी दृष्टिसे देखो तो सत् है, धर्मकी दृष्टिसे देखो तो सत् है, अभिन्न स्वरूप है। देखनेकी दो दृष्टियाँ है और धर्मी कुछ अलग से तो है नहीं, जो है सो है, वह न धर्मी है, न धर्म है। एक धर्मको मुख्य किया तो वह धर्मी हो गया और अन्य धर्म जो गौण किया गया वह धर्म हो गया। धर्म और धर्मीकी व्यवस्था मुख्यतया और गौण रूपसे है। इस आत्मामें कौनेसे गुणकी मुख्यता की जाय कि इस धर्मी आत्माका शीघ्र परिचय हो जाता है? समस्त गुणोंमें गुणराज ज्ञान गुण है जिस ज्ञान की प्रधानतासे इस आत्माका सुगमताया परिचय होता है यह ज्ञान स्वयमेव सत् है, इस कारण मुझे दूसरेसे रक्षाकी क्या आशा करना? दूसरेके द्वारा कया रक्षित होना? मैं तो स्वयं स्वरक्षति हूँ। इसका कभी अत्राण ही नहीं है, अरक्षा ही नहीं है, फिर ज्ञानी जीवको भय कहाँसे हो? संसारमें ऐसा वह ही बड़ा पुरुष है जिसका इस स्वतःसिद्ध आत्मत्वपर अधिकार हो गया है। क्षण-क्षण बाद जब चाहे तब ही इस आत्मदेवकी सिद्धि कर सकता है। ऐसा ज्ञानीमें बल प्रकट हो गया है। वह बल है सत्के यथार्थ सत्वके ज्ञानका बल।

कुछ भी वक्तव्यसे वस्तुस्वरूपके परिवर्तनका अभावदुनिया कभी भी कुछ भी कहो, किसी भी द्रव्यपर किसी अन्यद्रव्यका कुछ अधिकार नहीं होता। अधिकारकी बात कहना उपचारसे है। जिसको निमित्त करके यह जीव कुछ विकल्प बनाता है और लोकव्यवस्थामें जिसके पास अधिक समय तक वस्तु रहे उसे ही लोकव्यवस्थामें अधिकारी कहा गया है। परमार्थसे इस जीवका किसी भी अन्य वस्तुपर रंच भी अधिकार नहीं है। ज्ञानी जानता है अपने अन्तरकी श्रद्धामें सत्का यथार्थस्वरूप। यह श्रद्धाबल इस ज्ञानीके संवर और निर्जरा का कारण होता है। गृहस्थ ज्ञानीमें ऐसी

कौनसी खूबी है कि जिस खूबी के कारण सदा प्रसन्न, निर्मल, अनाकुल अन्तरमें रहा करता है, जब कि परिस्थितियाँ इसके विपरीत हैं। जिसके लिए लोग यह देखते हैं कि यह इतना घरमें फंसा है, इतनी व्यवस्थामें पड़ा है, लोगोंको यह दिखता है पर ज्ञानी पुरुषके श्रद्धामें एक ऐसा अपूर्व बल है जिस बलके प्रसादसे परवस्तुवोंमें वह आत्मीय मधुर आनन्दका अव्यक्तरूपमें स्वाद लिया करता है।

दृष्टिके अनुसार स्वादएक ऐसा कथानक है कि राजा और मंत्री राजसभामें बैठे हुए थे। मंत्रीको नीचा दिखानेके लिए राजाने बोलना शुरू किया कि मित्र मंत्री! आज रातको हमें एक स्वप्न आया है कि हम आप दोनों आदमी घूमने जा रहे थे, रास्तमें दो गड्ढ़े मिले, एक गड्ढ़ेमें गोबर भरा था और एकमें शक्कर भरी थी। सो गोबरके गड्ढ़ेमें तो आप गिर पड़े और मैं शक्करके गड्ढ़ेमें गिर पड़ा। तो मंत्री बोला कि महाराज ऐसा ही हमें स्वप्न आया, बिल्कुल ठीक यही स्वप्न आया, पर इससे आगे थोड़ा और देखा कि आप हमें चाट रहे थे और मैं आपको चाट रहा था। अब बतलावो कि राजाको क्या चटाया? गोबर? और स्वयंने क्या चाटा? शक्कर। तो ये चातुर्यकी बातें थीं। राजा शर्मिन्दा हो गया कि इसने हमें गोबर चटाया। तो देखो गोबरमें पड़ा हुआ भी व्यक्ति शक्करका स्वाद ले सकता है। ज्ञानी गृहस्थकी बाह्य परिस्थितियाँ बहुत-बहुत कार्योंके व्यग्ररूपा दीखा करती है पर धन्य है वह ज्ञानी जिसके अन्तरमें वस्तुकी चतुष्टय सीमाका भान हो जाता है और जहाँ यह विश्वास हो जाता है कि मेरा उद्धार किसी अन्य वस्तुके द्वारा हो ही नहीं सकता वह ज्ञानी अन्तरमें ज्ञानका स्वाद ले लेता है।

अज्ञानी और ज्ञानीकी भावस्थितियह बहुत बड़ा भयानक अंधेरा है जो धन वैभव, नाम, प्रतिष्ठा, आबरू आदिकी कोई तरंग उठा करे। करता क्या यह जीव? कर्मविपाकोंके वशीभूत है। वशीभूत भी क्या है, उदय है पर क्षयोपशम भी साथ में है। उस क्षयोपशमके रहते हुए अपनी बुद्धिसे चाहे अपनेको कुपथकी ओर ले जाकर बिगाड़ कर ले, चाहे सत्पथ की ओर उपयोग कर ले, ऐसा प्रमादी है, ऐसा संस्कारोंका शिकारी है कि वह निज ज्ञायकस्वभावके मननरूप आश्रयरूप सत्पथका परिग्रहण नहीं कर पाता है। ज्ञानी जीवकी दृष्टिमें वस्तुका यथार्थस्वरूप है। प्रत्येक पदार्थ स्वयं अस्तित्व लिए है। मेरा किसी अन्य पदार्थमें प्रवेश नहीं है।

हम आपके इस पिंडोलेमें भी वस्तुवोंकी स्वतन्त्रतायहाँ ही देखो हम आप जितने भी लोग बैठे हैं ये मुख्यतया तीन चीजोंके पिण्डोला हैं। एक आत्मा, दूसरा कार्माणवर्गणा और तीसरी शरीरवर्गणा। इन तीनोंका पिण्डीभूत है यह पुतला। फिर भी प्रत्येक पदार्थ अपना-अपना जुदा-जुदा सत् रखते हैं। ऐसा पिण्डीभूत होनेकी दशामें भी मैं पुद्गलका कुछ नहीं कर सकता, कर्मका, शरीरका कुछ नहीं कर सकता। जो होता है इन पदार्थोंमें वह उनमें स्वयमेव निमित्त पाकर होता है। स्वयमेव का अर्थ यह है कि केवल उनके स्वकी परिणति होती है। पर तो निमित्त हो सकता है, किन्तु परिणति केवल एककी ही होती है। प्रत्येक पदार्थ केवल अकेले परिणमता है। किसी दूसरे पदार्थकी परिणतिको साथ लेकर नहीं परिणमता है। तब प्रत्येक पदार्थ केवल ही परिणमता है और

प्रतिक्षण परिणमनशील है। अपनी जाति सीमाको छोड़कर भी परिणम नहीं जाता। तब ऐसा ही मैं हूँ, फिर मेरी अरक्षा कहाँ है? ऐसा ज्ञानी जीव अपना विश्वास बनाए है इस कारण ज्ञानीके अरक्षाका भय नहीं है।

ज्ञानीका विलासयह ज्ञानी सम्यग्ज्ञानके कारण निःशंक होता हुआ अपने सहज ज्ञानका, स्वाभाविक ज्ञानका ही निरन्तर अनुभव करता है। अज्ञानी ज्ञानके स्वादको कभी भी नहीं लेता, क्योंकि उसकी बहिर्मुखी दृष्टि है और ज्ञानी पुरुष श्रद्धामें अन्तरमें कभी भी परका अनुभव करता हो, स्वाद लेता हो, कुछ बनाता है, ऐसा कभी ध्यान नहीं होता, विश्वास नहीं होता। वह जानता हुआ भी नहीं जानता, करता हुआ भी नहीं करता, बोलता हुआ भी नहीं बोलता, क्योंकि ज्ञानीकी धुनि केवल अपने आपके सहज स्वरूपकी दृष्टिके लिए लगी रहती है। यों ज्ञानी पुरुष अत्राणका भय नहीं करता। अत्राण मायने रक्षा न होना, इसका उसे भय नहीं है। वह अपने आपको सदा स्वरक्षित, सुरक्षित मानता है। कैसा सुरक्षित है यह कि अनादिकालसे अनेक परभाव और परद्रव्योंके बीच रहता हुआ भी रहता चला आया हुआ भी यह अब भी सुरक्षित है। इसका सत् नहीं बिगड़ा, उतनाका ही उतना वैसाका वैसा अपना सत्व स्वरूप लिए है। ऐसा देखने वाला ज्ञानी पुरुष सदा निःशंक रहता है, निरंतर स्वयं ही अपने ज्ञानका अनुभव करता है।

सहज भावसहज ज्ञानका मतलब जानन परिणतिसे नहीं है, किन्तु अनादि अनन्त अहेतुक सदा प्रकाशमान जो असाधारण स्वरूप है ज्ञानस्वरूप, ज्ञानस्वभावमें ज्ञानस्वभावका प्रयोजन है सहज ज्ञानका। सहजका अर्थ होता है सह जायते इति सहजं। जो एक साथ उत्पन्न हो उसे सहज कहते हैं। जबसे पदार्थ, जबसे जो हो और जब तक पदार्थ है तब वही रहे ऐसा जो कुछ परिणाम है उसे कहते हैं सहज।

सतत ज्ञानवेदीके अत्राणभयका अभावयह ज्ञानी पुरुष अत्राणका भी भय नहीं करता है। यह तो सतत निरन्तर अपने ज्ञानका अनुभव करता है। सम्यक्त्वके होनेपर स्वरूपाचरण चरित्र होता है। जिसका कार्य है कि अपने स्वरूपमें अपना आचरण बनाए रहना। यह आचरण कहीं दृष्टिरूप है, कहीं आश्रयरूप है, कहीं आलम्बनरूप है, कहीं अनुभवनरूप है और कहीं परिणमरूप है। स्वरूपाचरण सम्यक्त्व होते ही यह प्रकट होगा और यह अनन्तकाल तक रहेगा। सिद्ध जनों पर भी स्वरूपाचरण रहता है। देशब्रत, सकल ब्रत, ये तो अध्रुव हैं, सहेतुक हैं, स्वभाव भाव नहीं हैं, किन्तु आत्माका यह अकलंक सहज स्वरूप स्वतःसिद्ध है, अनादि अनन्त है। जबसे वस्तु है तबही से इसके साथ तन्यमता भी है। ऐसे सहज ज्ञानसे यह ज्ञानी जीव निःशंक होता हुआ अपने आपका अनुभव करता है। यों ज्ञानीके अरक्षाका भय नहीं होता। इस प्रकरणमें चतुर्थ भयका अभाव बताया है। प्रकरण चल रहा है कि ज्ञानी पुरुषमें शंका नहीं रहती है, निःशंक रहता है, क्योंकि अंत तक उसके यह बल बना हुआ है कि परका और क्या होगा, वियोग हो जायगा, छिद जायगा, भिद जायगा। विनाश हो जायगा क्या? अलग हो जायगा तिसपर भी मुझ सत्का कभी विनाश नहीं होता

है। ऐसा उस ज्ञानीके दृढ़तम श्रद्धान है इसलिए वह निःशंक रहता है और निःशंक होता हुआ सतत अपने सहज ज्ञानका ही अनुभव करता है।

ज्ञानीके अगुप्तिभयका अभावनिःशंकित अंगके प्रकरणमें ज्ञानी जीव अगुप्तिभय से पृथक् अपने आपको देख रहा है, वह क्या जानता है कि वस्तुका निजस्वरूप ही वस्तुकी परमगुप्ति है। गुप्ति उसे कहते हैं अथवा दृढ़ किले जैसी निर्मितिको गुप्ति कहते हैं जिसमें अन्य कोई प्रवेश नहीं कर सकता। जैसे किला दृढ़ बनाया जाता है किसलिए कि इस किले के अन्दर कोई प्रवेश नहीं कर सकता। ज्ञानी पुरुषका किला ज्ञानी पुरुषका स्वरूप है। यह किला है तो सबके पास। इसमें किसी भी अन्य पदार्थका प्रवेश नहीं हो सकता, पर इसका पता अज्ञानीको नहीं है। ज्ञानीको लगा है। जिसे अपने स्वरूपका पता है उसके उपयोगमें अन्य कोई तत्व प्रवेश नहीं कर पाता है क्योंकि इसके प्रवेशका द्वार भावास्रव है, अज्ञान है, मिथ्यात्व है।

अज्ञानीकी अगुप्तिदृढ़ किला होकर भी विभाव एक ऐसा विलक्षण घर बसा तत्व है कि यह सारा किला भी बालूकी रेतकी तरह टूट जाता है, उपयोगद्वारसे वैसे वस्तुस्वरूप टूटता नहीं है। स्वरूपकिला इतना मजबूत है कि वह किला कभी टूट ही नहीं सकता। पर इस आत्मामें जो अज्ञानका उपयोग है, सो अपने उपयोग द्वारा अपने इस स्वरूपकिलेको तोड़ देता है। पर ज्ञानी जीव अपने उपयोगको अपने स्ववशमें रखता है और वह तोड़ नहीं पाता है। वस्तुका निजी स्वरूपही वस्तुकी परमगुप्ति है। यह ज्ञान ही इस जीवका स्वरूप है। ज्ञानी जवीको कुछ भी अगुप्ति नहीं है इसलिए ज्ञानीको अगुप्ति का भय नहीं है। ऐसा भय होता है लोगोंको कि मेरे घरकी भींत पक्की नहीं है अथवा यह कम ऊँची है या किवाड़ मजबूत नहीं है, कोई भी दुश्मन, डाकू कहींसे भी प्रवेश कर सकता है ऐसा उसे अगुप्तिका भय रहता है।

ज्ञानीकी गुप्तिज्ञानी जीव निहारता है कि मैं तो अपने स्वरूपमें हूँ। इस स्वरूप में कोई भी परपदार्थ रंच भी प्रवेश नहीं कर सकता है। न अन्य जीव प्रवेश करता है, न कोई पुद्गल आदिक द्रव्य प्रवेश कर सकते हैं। एक क्षेत्रावगाह भी हो जाय फिर भी स्वरूप में प्रवेश नहीं होता। जैसे दूध और पानी एक गिलासमें मिल जायें, जिसको अलग करना जरा कठिन है वहाँ भी दूधके स्वरूपमें दूध ही है और पानीके स्वरूपमें पानी ही है। पानीमें मिट्टीका तेल डाल दिया जाता है और जहाँ पानी है वहाँ वह तेल भी है, किन्तु वहाँ एकदम स्पष्ट हो जाता है कि तेल पानीके ऊपर अथवा अगल-बगल पड़ा इकट्ठा नजर आता है। लो यह तेल है, यह पानी है। तेलके स्वरूपमें तेल है और पानीके स्वरूपमें पानी है। मोटे अथवा सूक्ष्म अनेक दृष्टान्तोंसे इस बातको जान सकते हैं कि एक क्षेत्रमें भी रहकर एक पदार्थ अपने स्वरूपको किसी दूसरे पदार्थको नहीं दे सकता है। तब पदार्थका स्वरूप गुप्त हुआ ना, उनके स्वरूपको कोई भेद नहीं सकता। मेरा भी ऐसा ही सुरक्षित स्वरूप है कि उसमें परपदार्थका प्रवेश नहीं है। अरक्षाका क्या भय है, आक्रमणका क्या भय है?

इस कारण ज्ञानी निःशंक होकर निरन्तर स्वयमेव अपने सहज ज्ञानस्वभावका अनुभव करता है। यों यह मैं हूँ, यह पूरा हूँ, इसमें यह ही है, इसमें अन्य कुछ नहीं है।

अज्ञानीका विकल्प व अनर्थयह जीव विकृत अवस्थामें अज्ञान और मिथ्यात्व अंधकारसे आच्छादित था, उस समय भी यह अपने आपका ही स्वामी था, कर्ता था, भोक्ता था। तब भी इसमें दूसरेके स्वरूपका प्रवेश न था भोजन करती हुई हालतमें भी। हालांकि लोभी पुरुष आशक्त होकर मौज लेता हुआ भोजन चबाकर स्वाद ले रहा है उस समय भी उस ज्ञानीकी आत्मामें भोजनका एक अणु अथवा रस आदि कुछ तत्व प्रवेश नहीं कर रहा है। वस्तुके स्वरूपकिलाको कोई तोड़ नहीं सकता है पर वह अज्ञानी अपने आपमें बैठा हुआ कल्पनाएँ कर रहा है कि मैं भोजनका स्वाद ले रहा हूँ। इसके बाद मीठे रसका मौज मानता है। माने भले ही वह उपयोगद्वारसे बाहर किसी भी द्रव्यमें नहीं गया। इसका पता नहीं है इसलिए अपनी प्रभुताका विपरीत उपयोग कर रहा है।

स्वरूपकी सहज दृढ़ताजीव सब प्रभु हैं, ऐश्वर्य सम्पन्न हैं पर कोई अपने ऐश्वर्यमें स्वाभाविक परिणमन कर रहा है जैसे कि परमात्मा। और कोई अपने उपयोगको ज्ञानकी दृष्टिमें परिणमन कर रहा है जैसे कि अंतरात्मा। और कोई अपने उपयोगको बाह्यपदार्थजन्य सुखकी कल्पना करके परिणमन कर रहा है जैसे कि बहिरात्मा। पर सभी आत्मावोंने केवल अपने आपके स्वरूपमें ही तो कुछ किया, पर बाहरसे कुछ प्रवेश नहीं हो सकता। जैसे मजबूत किलेके अन्दर रहने वाले राजाके कुटुम्ब वाले परस्परमें तो लड़ें भिड़ें पर उस किलेमें दूसरा शत्रु प्रवेश नहीं हो पाता है। इसी तरह इस आत्मस्वरूपमें इस मजबूत किलेमें स्वयं का उपयोग विकल्प रागादिक भाव विकृत होकर बिगड़ते हैं तो बिगड़ें, पर इस आत्मस्वरूप में किसी भी परवस्तुका प्रवेश नहीं हो सकता है।

निजबलका ज्ञानीज्ञानी जीवको ऐसा पता है इस कारण वह अपने उपयोगसे बाहर नहीं जाता है। जिसमें किसीका प्रवेश नहीं हो सकता ऐसे गढ़का नाम गुप्ति है, या कुछ भी मजबूत चीज हो उसका नाम गुप्ति है। इसमें यह मनुष्य होकर ठहरता है बढ़िया मकान बना हो, मजबूत किवाड़े हों तो किवाड़ोंको बंद करके कैसा आरामसे लोग सोया करते हैं और कभी खुला दालान वगैरहमें रहनेको मिले तो कितनी आशंका रहती है? निःशंक होकर सो नहीं सकते हैं, अधजगे सोते हैं, क्योंकि अगुप्तिका भय है, गुप्ति नहीं है, सुरक्षित ओट नहीं है। पर ज्ञानी जीवके अन्तर श्रद्धाकी बात कही जा रही है। उसको यह विदित है कि मेरा अंतःस्वरूप परम सुदृढ़ है। इस स्वरूपमें किसी अन्यका प्रवेश नहीं हो सकता, सो अपने स्वरूपमें, प्रवेशमें रहता हुआ यह प्राणी निर्भय बना रहता है।

आत्मामें बल विकसित होनेका स्वभावगुप्त प्रदेश न हो, खुला हुआ हो उसको अगुप्ति कहते हैं। वहाँ बैठनेमें अज्ञानीको भय उत्पन्न होता है। पर ज्ञानी ऐसा सोचता है कि जो वस्तुका निज स्वरूप है उसमें परमार्थसे दूसरी वस्तुका प्रवेश नहीं है। यही परम गुप्ति है, पुरुषका स्वरूप ज्ञान है। इस असाधारण ज्ञानस्वरूपमें किसी अन्यका प्रवेश नहीं होता है। ऐसे सुदृढ़ श्रद्धान वाले

पुरुषमें भय कहाँ उत्पन्न होता है? जब जमींदारी खत्म होनेका कानून लागू हो रहा था उस समय लोग कितना भयशील थे कि इतनी बड़ी जायदाद इतनी बड़ी आयका साधन यह अब समाप्त हो जायगा, गुजारा कैसे होगा? इन्हीं प्रसंगोंमें जब बहुत-बहुत दुःखी होने लगे तो यह बल भी प्रकट हो गया कि जैसे इतने देशके बहुत लोग रहते हैं उस तरहसे रह लेंगे, गुजारा हो जायगा। उससे कम तो नहीं हो जायगा। मुझे तो कोई न छुड़ा ले जायगा। समय गुजरा, भय सब समाप्त हो गये।

निर्भयताका मूल उपाय आकिञ्चन्य भावना□जितना आकिञ्चन्यकी ओर मनुष्य बढ़ता है उतना ही उसे संतोष होता है। धनसंचय करके न किसीने शांति पायी और न कोई शांत बन सकेगा। और धनका त्याग करके अथवा अच्छे कार्यमें सदुपयोग करके न कोई पछता सकेगा। भाग्यमें जितना होता है उतना ही रहता है। चाहे उसका जितना दान करे चाहे भोग करे अथवा दोनों बातें न करे तो नाश हो जायगा इन बाह्य समागमों की स्थितियोंमें इस आत्माका कुछ कल्याण नहीं है। प्रत्येक स्थितिमें अपनेको आकिञ्चन्य अनुभव करो। धन हो अथवा न हो, धनके लिए बुरा बोलना, अच्छा बोलना उससे तो क्लेश ही बढ़ेंगे। गरीबीसे भी अधिक क्लेश इसमें होता है। अपने माने हुए परिवारके वचन बाड़ भिद जाया करते हैं, उस समयमें भी क्या औषधि है कि अपने क्लेश मिटें? अपने आपको अकिञ्चन अनुभव करो। यही एक परम औषधि है। मैं आकिञ्चन्य हूँ अर्थात् मेरे स्वरूपके अतिरिक्त लोकमें अन्य कुछ भी पदार्थ मेरा नहीं है। इस आकिञ्चन्यके अनुभवके प्रसादसे वे सारे क्लेश खत्म हो जाया करते हैं।

वचनसंचमका प्रताप एवं कुवचनकी अनर्थता□विवेकी पुरुष तो अपने वचनोंपर बड़ा कण्ट्रोल रखते हैं। किसीसे वे बोलना ही नहीं चाहते। जब कोई अधिक गले पड़ जाय, आजीविका नष्ट होनेको देखे अथवा अन्य कोई अपना बड़ा अहित होते देखे तो वह बोलता है अन्यथा वह कुछ बोलना पसंद ही नहीं करता है। बोल देनेके बाद ये वचन फिर वापिस नहीं आते हैं। यदि कुछ खोटा बोल दिया तो बोल चुकनेके बाद वे खोटे वचन वापिस नहीं आते। जैसे धनुषसे निकला हुआ बाण, छूटा हुआ बाण हो उससे कितनी ही मिन्नत की जाय, कितनी ही प्रार्थना की जाय कि ऐ बाण तू भूलसे छूट गया है, अरे वापिस आ जा, तो वह वापिस नहीं आता। इसी प्रकार इस मुखरूपी धनुषसे छूटा हुआ वचनबाण हो, उससे कितनी ही मिन्नत करो, कितनी ही प्रार्थना करो तो भी वह वचन वापिस नहीं आ सकता। जिसमें निशाना करके मारा गया है उसे लगे बिना वापिस नहीं आ सकता है। यह मुख धनुष ही तो है। जब बोला जाता है तो मुखका आकार धनुषकी तरह हो जाता है दोनों ओंठ ऐसा फैल जाते हैं जैसे खींचा हुआ धनुष। उस खिंचे हुए धनुषसे बाण निकलता है। जब खोटे वचन बोले जाते हैं तो यह धनुष और तेज खुलता है। जब समतापूर्ण बात बोली जाती है तब इस धनुषका मुख थोड़ा ही खुलता है, पर जहाँ गुस्साके वचन खोटे वचन बोले जाते हैं वहाँपर यह बहुत ज्यादा खुल जाया करता है। यह वचनबाण निकलनेपर कितना ही कहो कि भाई मेरी बात वापिस कर दो तो वापिस नहीं होती। यह सब अपने स्वरूपके वशमें न रख सकनेका परिणाम है।

गुप्त स्वरूपके गुप्त रहनेमें गुप्तिमन, वचन, कायको वशमें रखना यही गुप्तिका सदुपयोग है। गुप्तिका अर्थ अप्रकट भी है औरह सुरक्षित भी है। जो रक्षा करे उसका नाम गुप्ति है। न तो छुपा हुआ इसका अर्थ है और न प्रकट हुआ इसका अर्थ है। जो रक्षा करे उसका नाम गुप्ति है। गुपू रक्षणे संस्कृतमें धातु है, उससे गुप्ति शब्द बनता है। चाहे वह किला हो जो दुनियाको स्पष्ट दिखता है उसका भी नाम गुप्ति है और कोई अत्यन्त छिपा हुआ हो वहाँ भी गुप्ति शब्द कहा जायगा, क्योंकि कोई उस किलेको नहीं भेद सकता है, वह मजबूत है और न कोई छिपे हुए पदार्थको भेद सकता है क्योंकि वह दूसरेकी नजर ही में नहीं है, सुरक्षित होनेका नाम गुप्ति है। यह असाधारण चैतन्यस्वरूप पूर्ण सुरक्षित है।

संश्लिष्ट होनेपर भी असंश्लेषअनादिकालसे अब तक यह आत्मतत्व इस विभाव और परके निमित्तनैमित्तिक बननेमें ऐसा रह आया है कि एक तान होकर उनमें विस्तृत रहा। यह शरीर है और इस शरीरमें जीव भरा हुआ है। तो कैसा धन भरा हुआ है कि इस शरीरके रग-रगमें जीव मौजूद है। इस शरीरके अन्दर जहाँ-जहाँ भी जो कुछ पोल है, नाकके छिद्रोंमें, कानके, छिद्रोंमें, पोलमें जीव प्रवेश नहीं है, क्योंकि वहाँ शरीर ही नहीं है, जहाँ शरीरकी गर्णनाएँ है वहाँ सर्वत्र आत्मप्रदेश है, ऐसा सघन बँधा हुआ यह जीव है। जब शरीर हिले चले तो आत्माका भी हिलना चलना होता है। जब यह जीव जाता है तो इस शरीरको भी जाना होता है। ऐसा इसका परस्पर निकट सम्बन्ध है तिस पर भी आत्माका स्वरूप मजबूत और गुप्त है। न शरीरके स्वरूपमें जीवका प्रवेश हो पाता है और न जीवके स्वरूपमें शरीरका प्रवेश हो पाता है। ये दोनों अपनी-अपनी जगह अपने स्वरूपमें गुप्त हैं, सुरक्षित हैं, स्वतः सिद्ध हैं। ऐसा अवगम इस ज्ञानी जीवको वस्तुस्वरूपके दर्शन में होता है। अतः उसे किसी ओरसे भी भय नहीं रहता है।

आत्मसावधानीमें संकटकी समाप्तिभैया! जब कभी भी कोई उपद्रव, संकट, झंझट, चिंता, रागद्वेष कुछ भी अनर्थ होनेको हो उसी समय यह सम्यग्दृष्टि पुरुष सावधान रहता है। जाता है तो जावो। तो यह मैं जानता हूँ, परिपूर्ण हूँ, इतना मात्र हूँ, हमारा कुछ भी बिगाड़ नहीं होता है। ऐसा ज्ञानी पुरुषको दृढ़ बोध है अपने आपके स्वरूपके विषय में। यों तो कितनी ही सीमामें पुद्गलमें भी बातें निरख सकते हैं। समुद्रके पानीमें हवाका बहुत सघन स्पर्श है तब लहर चल रही है। उस लहरके साथ हवाका भी पूरे रूपसे सम्बन्ध है, चिपका हुआ है, लेकिन हवाके स्वरूपमें हवा ही है और पानीके स्वरूपमें पानी ही है। कोई किसीको अपना स्वरूप नहीं सौंप देता है।

सर्वत्र निज-निजका अभ्युदयदो मित्र मिलकर किसी एक कामको कर रहे हों और बड़ा आल्हाद मना रहे हों, सुखी हो रहे हों, वहाँ पर भी प्रत्येक मित्रका मात्र अपने आपमें ही परिणमन हो रहा है। अपनेसे अतिरिक्त अन्य किसी भी परमें परिणमन नहीं हो पाता है। ऐसी वस्तुकी मर्यादा ही है। ऐसा स्पष्ट बोध जिस ज्ञानी जीवके रहता है उसको अगुप्तिका भय नहीं होता। वह अपने सहज ज्ञानस्वरूपको ही अपने आपमें स्थित होता हुआ अनुभव करता है। सहज ज्ञानस्वरूपकी एक

परिस्थिति है अनुभवमें और कैसा हुआ है इसके लिए बाह्यविषयक यथार्थ साधारण ज्ञान करके जो इस आग्रहपर उतर गया है कि समस्त परपदार्थ पर ही हैं, किसी भी परसे मेरा हित नहीं है। ऐसा बोध करनेपर उसे उपेक्षा करनेका बल प्रकट होता है। जब मेरा हितकारक नहीं है, मेरा मोक्षका साधक नहीं है, आनन्दकी सिद्धि करा सकने वाला नहीं है तो बाह्यपदार्थोंमें क्या ममत्व करना? ऐसे उठे हुए अंतरंग वैराग्य परिणामसे यह जीव समस्त वस्तुवोंसे उपेक्षा कर देता है तो स्वयं ही अपने आप इसका जो अपना स्वरूप है। ज्ञानस्वरूप जाननमात्र, उस जाननमात्र भावके ही जाननेमें लग जाता है। कोई विकल्प नहीं है। जो भी विकल्प होता है उसको भी यह कहकर कि तू परभाव है, तू दुःख देनेके लिए उत्पन्न होता है, तू हट जा।

विकल्पविनाशका बुद्धिपूर्वक साधन ज्ञानार्जनभैया! विकल्पके हटते ही स्वयं ही ज्ञानस्वरूप आत्मतत्वका अनुभव होता है। इसके लिए बहुतसी साधनाएँ करनी पड़ती हैं। उन साधनावोंमें मुख्य साधना है ज्ञानार्जन, स्वाध्याय। ज्ञानार्जन करनेके तीन-चार तरीके हैं। एक तो अकेले मुखसे क्रमशः अध्याय करना। दूसरे प्रतिदिन प्रवचन करना, शास्त्रका वाचन कर लेना। इस प्रकार १०-१२ मिनट पठन किया ओर तीन चार मिनट उसके सारभूत बातके विचारमें लग जाय, इस प्रकार स्वाध्याय करना ज्ञानार्जनका साधन है। तीसरा साधन वीतराग भावसे आत्महितके चावसे जैन सिद्धान्त तत्वकी चर्चा करना। चर्चा करनेसे बहुतसी बातें स्पष्ट प्रकट हो जाती हैं। और चौथा उपाय यह है कि एक वर्षमें एक माहको घर छोड़कर सत्संगमें रहना, १ माहको घर छोड़नेके बाद भी यद्यपि घर आना है फिर वह छोड़कर अंतरंगमें रहनेपर धर्मकी ओर चलता है। इन तीन चार उपायोंको अपने ज्ञानार्जन में लेकर अपने ज्ञानस्वरूपकी मजबूतीका भान कर लेगा तब अपने स्वरूपका भली प्रकार पता हो लेगा, तब समझिये कि यह जीव कृतकृत्य होनेको तैयार है।

वास्तविक वैभवयथार्थ ज्ञानका हो जाना ही सर्वोत्कृष्ट वैभव है। ये सब समागम धन, कन, कंचन, राजसुख ये सब ही मिल जाते हैं, ये सब सुलभ हैं। जितना मिला है उससे कुछ और अधिक मिल जायगा, दुगुना हो जायगा तो उससे आत्माकी कौनसी सिद्धि हो जायगी? प्रत्युत अवस्थाकी धुनि हो जानेसे इस बाह्य सम्पदासे क्लेश ही मिलेगा। गृहस्थावस्था है, आजीविका चलाना है, यह तो कर्तव्य ही है करो, पर धन कमाना अपने हाथकी बात नहीं है, केवल उद्यम करना ही अपना कर्तव्य है। उसे उपेक्षा भावसे करो और अपने ज्ञानार्जनकी मुख्यता दो तो अपने इस गुप्त आत्माका भान होगा और यह बल मिलेगा कि किसी भी समय मेरेमें परसे कोई आपत्ति नहीं आया करती है।

परसे मेरे बिगाड़का अभावपरपदार्थोंका मेरेमें कदाचित् भी प्रवेश नहीं हो सकता है। हम बिगड़ते हैं तो अपने आपकी परिणतिसे बिगड़ते हैं, सुधरते हैं तो अपने आपकी परिणतिसे सुधरते हैं। ऐसा इस ज्ञानी जीवके अपने दृढ़ स्वरूपका भान है, अतः उसको अगुप्तिभय नहीं होता। वह तो निःशंक होता हुआ निरन्तर स्वयं ही अपने अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण सहज ज्ञानस्वरूपका

ही अनुभव किया करता है। इस प्रकार इस भयके प्रकरणमें अगुप्तिभयसे सम्यग्दृष्टि पुरुष दूर है, इस बातका वर्णन किया।

ज्ञानीके मरणभयका अभाव□सम्यग्दृष्टि जीव चूँकि आत्मस्वरूपसे परिचित है और आत्माके शुद्ध ज्ञायकस्वरूपके उपयोगके कारण परमआनन्दका स्वाद ले चुका है, अतः अब उसे विश्वमें किसी भी प्रकारका भय नहीं रहता है। वे भय ७ प्रकारके होते हैं, उनमेंसे एक लौकिक जनोंका बड़ा भयंकारी भय है मरणका, किन्तु ज्ञानी जीवको मरणका भय नहीं होता।

गति व आयुकी प्रकृतिमें अन्तर□नारकी जीवोंको छोड़कर बाकी सभी अज्ञानी जीव मरणसे डरते हैं। नारकी मरणको चाहते हैं पर उनका असमयमें मरण हो नहीं सकता। गतियोंमें दो गतियाँ पुण्य हैं और दो गतियाँ पाप हैं, किन्तु आयुवोंमें एक आयु पाप है और तीन आयु पुण्य हैं। नरक आयु तो पापप्रकृति है और तिर्यञ्च, मनुष्य, देव ये तीन आयु पुण्यप्रकृति हैं। गतियोंमें नरक गति और तिर्यञ्चगति ये दो गतियाँ पापप्रकृति हैं, किन्तु मनुष्यगति और देवगति ये दो गतियाँ पुण्यप्रकृति हैं। इस विषमताका क्या तात्पर्य है कि तिर्यञ्चगतिके तीव अपनी अवस्थाको बुरी अवस्था मानते हैं, दुःखी भी होते रहते हैं पर मरण नहीं चाहते हैं। कैसा ही क्लेश हो तिर्यञ्चोंको पर मरण नहीं चाहते हैं। तिर्यञ्चोंको आयु प्रिय है इस कारण वे आयु चाहते हैं, और नारकी जीव अपनी वर्तमान अवस्थाको भी नहीं चाहते और मरण चाहा करते हैं इस कारण उन्हें अपनी आयु प्रिय नहीं है सो नरक आयु केवल पापप्रकृति है, पर वे मरण चाहते हैं। यह एक स्थूल दृष्टिसे है पर अन्तरसे तो कोई भी जीव अपना विनाश नहीं चाहता।

आत्माका परमार्थ प्राण□मरण कहते हैं प्राणेंके उच्छेद हो जाने को, विनाश हो जानेको। पर आत्माका प्राण क्या है? प्राण उसे कहते हैं जो वस्तुके सत्वका मूल आधार आत्माके सत्वका मूल आधार इन्द्रिय नहीं, किन्तु ज्ञान, दर्शन, चैतन्य स्वभाव है। आत्मामें ज्ञान दर्शन चैतन्य स्वभाव न हो फिर आत्मा रह जाये ऐसा नहीं हो सकता है, क्योंकि आत्माके सत्वका मूल आधार लक्षण ज्ञान दर्शन है। अतः आत्माका परमार्थ प्राण ज्ञानस्वरूप है। सो वह ज्ञान शाश्वत है, स्वयमेव है, वह कभी भी किसी भी प्रकार छिद नहीं सकता, वियुक्त नहीं हो सकता। इस कारण इस ज्ञानका मरण ही नहीं है। जब इस ज्ञानका मरण नहीं है तब ज्ञानी जीवको भय किस बात का? सबसे बड़ा विष जीवके साथ लगा है तो मोही, मलिन, मायावी, तुच्छ पुरुषोंमें मेरा नाम हो जाय यही विष लगा है। यह सारा जगत मायामय है। और सम्भव है कि जिस जीवलोकमें हम अपना नाम जताना चाहते हें वह जीवलोक अपनेसे भी निम्न दशामें हो। और प्रायः ऐसा है। तो मायामय, असार, मलिन, दुःखी, मोही प्राणियोंमें नामकी चाह यह सबसे बड़ा भयंकर विष है। जीव संज्ञी और समर्थ होकर भी इस ख्यातिकी आनमें चलकर अपने प्राणोंको भून डालते हैं।

नाम किसका□ये जो नाक, आँख, कान हैं, जिनका फोटो उतरता है क्या उनका नाम चाहते हो? यह लोककी दृष्टिमें बड़ा उच्च जंच जाय तो इससे क्या आत्माका संसार कट जायगा? मरण

होनेपर क्या वे नरक तिर्यंच निगोद गतियाँ छूट जायेंगी? किसका नाम चाहते हो? जो तू है सो तेरा नाम नहीं है। तू बिना नामका चेतन है। तू अपने आपको देख। तू बाहरी वस्तुवोंको देखता है यह भींत है, यह खम्भा है। जरा अन्तर दृष्टि करके अपने आपके भीतर इस स्वरूपको निहारो, यह तो सर्व साधारण एक चित् प्रकाशमात्र है। इसका कुछ नाम है क्या? कोई इसको जानता हो तो नाम भी धरे, पर दुनियाके लोग इस मुझको जानते कहाँ हैं? फिर नाम किसका? इस मुझ आत्माका सम्बन्ध मेरे अन्य लोकसे बाहर रंचमात्र भी नहीं है। कहाँ नाम चाहते हो? किसको बताना चाहते हो? अपनी करनी अच्छी होगी तो अपनेको लाभ मिलेगा। अपनी करनी बहिर्मुखता की है तो उसमें अपने प्राणोंका विनाश है। बाहर कुछ मत ढूँढ़ो। जो कुछ किया जाय वह अपनी विशुद्धिके लिए किया जाय, विषय कषायोंसे हटते हुए रहना यह बहुत बड़ा लाभ है।

विषय दावाग्निभैया! पंचेन्द्रियका विषय यह है दावाग्नि। इन विषयोंकी चाह यही है भयंकर दहन। इसमें जगतके जीव जले जा रहे हैं। इसको बुझानेके लिए समर्थ केवल ज्ञानजल है। उस ज्ञानके द्वारा इन विषयोंसे निवृत्ति पायें तो आत्माको हितका मार्ग मिलेगा। मनुष्यको कुछ न कुछ काम चाहिए। यदि निर्विकल्प समाधिमें ही रह सको तो रहो, पर एक रुखी धर्मकी धुनि बनाकर कि अपना हो काम करो, अपना ही हित करो, ऐसी रूखी धुनि करके और साधर्मी जनोंकी सेवासे दूर रहकर कर्तव्य व्यवहारसे कर्तव्य मार्गसे पृथक् रहकर सेवाके कार्यसे निवृत्त रहकर तो न अपना ही कार्य बन पाता है और न लौकिक प्रसन्नता भी साथ रह पाती है। सूना-सूना सा रहता है। अपने मनका मिट्ठू हुआ बना रहता है। हमारा आपका मुख्य काम क्या है स्वाध्याय करना ज्ञान ध्यान समाधि में रहना, सो इतना तो हो नहीं पा रहा है और इसके एवजमें पर्याय बुद्धि रहती है। कितनी ही दुनियाकी खोटी बातें हृदयमें आती रहती हैं, अपना विषय वासनाकी बातें मनमें आती हैं। अपना कर्तव्य है कि ऐसी वृत्तिमें लगें, ऐसी परसेवामें लगें जिससे ये भयंकर विषयकषायके भाव हमसे दूर हो सकें।

परसेवाका उद्देश्यपरसेवाका उद्देश्य विषयकषयोंसे निवृत्ति पाना है। और देखते ही हो कि कभी किन्हीं रोगी, दुःखी, कोढ़ी पुरुषोंके बीचसे निकलो तो वहाँ परिणाम कैसा बदल जाता है? वहाँ विषयकषायके भाव नहीं सता पाते हैं। परसेवा प्रसंग विषय कषायोंकी निवृत्तिका उद्देश्य लिए हुए है। इस जीवका इस लोकमें कोई साथी नहीं है। जिसको अपना घर मान रखा है और जिन घरवालोंके लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया जाता है, अन्य जीवोंके समानवे भी अत्यन्त भिन्न है। उनसे मोह बसानेसे क्या प्राप्त होता है? अंतमें हाथ रहता भी कुछ नहीं है। यह हंस अकेलाका अकेला ही रहता है। इसका कोई सहाय नहीं होता है। जिसने इस जीवनमें निर्मल शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका लक्ष्य करके अपने आपका पोषण किया है वही पुरुष कल्याणका पात्र हो सकता है।

परमार्थमरण व काल्पनिक मरणभैया! संसारके सभी जीव मरणसे डरते हैं पर मरण तो वास्तविक निरन्तर जीवका प्रतिसमय होता जा रहा है। विभावपरिणामोंको करके जो शुद्ध ज्ञानस्वभावका

विकास बन रहा है ज्ञानसुधा रसका स्वाद नहीं लिया जा सकता है वह मरण ही तो है। जैसे आजकल पतली बरषाती चादर आती है। कागजसे भी अधिक पतली होती है उसको मुँहके आगे लगाकर पानीमें डूबे हैं, उसके ऊपर पानी लबालब भरा है पर पानी अत्यन्त दूर है। उस पानीका एक बूँद भी मुँहमें नहीं जा सकता है। पानी और मुँहके बीचमें कागजसे भी पतला एक प्लास्टिकका पर्दा है, सो पानीका स्वाद नहीं लिया जा सकता है। इसी तरह अत्यन्त निकट और निकट ही क्या, स्वयं ज्ञानघन आनन्दमय यह आत्मतत्व है पर इस आत्मतत्व और सदुपयोगके बीच विषयकषायोंका अमूर्तिक अत्यन्त पतला जिसमें लम्बाई चौड़ाई मोटाई कुछ नहीं है, न कोई पिण्डरूप है, हवासे भी पतला अमूर्तिक विषयकषायोंका पर्दा पड़ा हुआ है जिसके कारण इस परमात्मरसका स्वाद नहीं लिया जा सकता है। यह परमार्थ प्राणघातरूप प्रतिसमय मरण हो रहा है, इस मरणकी ओर तो दृष्टि नहीं है, किन्तु इस जगतके जीव इस शरीरके मरणसे डरा करते हैं। मरणसे डरें तो वास्तविक मरणसे डरें। यह तो कोई मरण नहीं है यह तो पुरानी कुटीसे निकलकर नई कुटीमें पहुँचने जैसी बात है। यदि अपना आत्मतत्व अपनी दृष्टिमें है तो भय किस बात का है? और अपना आत्मतत्व अपनी दृष्टिमें नहीं है तो निरन्तर मरण हो रहा है। वह जीना भी मरणसे बुरा है, जिस जीनेमें जीव न दिखता हो, परमात्मस्वरूप का दर्शन न हो सकता हो, मोह अंधकारमें भी बुरा है।

अज्ञानीकी त्रुटिके परिचयका अधिकारीभैया! इस मोही जीवपर हँसी करनेवाला ज्ञानी ही हो सकता है। अज्ञानी तो उसका समर्थन करता है। तुमने बहुत अच्छी कला खेली है, तुमने बड़ी सुन्दर व्यवस्था बनाई है इस तरहसे अज्ञानी तो उसका समर्थन किया करता है। अज्ञानीकी गलतीपर ज्ञानी ही एक मधुर हास्य कर सकता है। अहो कितना व्यर्थका ऊधम ये जीव कर रहे हैं? कितना बाहरी पदार्थोंकी पकड़में ये जीव लगे हुए हैं और अपने आपके प्रभुका घात किए जा रहे हैं। ज्ञानी पुरुषके तद्भव मरणका भय नहीं है। यह अपने आपकी दृष्टिमें यथार्थ रूपसे बना रहे तो यह तो सदा हराभरा है। इसका मरण कहाँ है? ज्ञानी जीव मरण भयसे दूर रहता है, निःशंक रहता है। जिसने अपने आत्मासे रिश्ता लगाया उसको मरण नहीं दिखता, जिसने निज सहजस्वरूप ज्ञानमय अपने आपको ही माना उसको यहाँ कोई भय नहीं है।

मरणभयके प्रधान कारणभैया! मरणके समय जीवको २ प्रकारके भय होते हैं एक तो बड़ी मेहनतसे धन जोड़ा, कुटुम्ब परिवार मिले वे सब छोड़ने पड़ रहे हैं, एक तो इस आशयकी चोट लगी है। दूसरे शरीर जो उसे प्रिय लग रहा है, उस शरीरसे प्रेम है, उस शरीरसे प्राण जंत्रीमें से चाँदीके तारकी तरह खिंचकर जाना होता है तो शरीरके मोह से वह अपनेमें दुःख मानता है। जिस ज्ञानी पुरुषके अपने शुद्ध स्वरूपकी दृष्टि है अर्थात् अपने आप यह मैं आत्मा जो सत् हूँ, जो मुझमें सर्वस्व है, जिस स्वरूपसे मेरा निर्माण है, जिस स्वरूपमय मैं स्वरसतः हूँ ऐसे उस प्रतिभासम्पन्न स्वरूपका अनुभव किया है, उसे किसी भी परदार्थसे मोह नहीं रहता। सभी पर पृथक् हैं। जहाँ परसे

मोह नहीं रहता वहाँ मरणका भय भी नहीं रहता। ज्ञानी पुरुष मरणके भयसे सदा दूर रहता है। वह तो निःशंक होता हुआ निरन्तर स्वयं अपने ज्ञानस्वरूपका अनुभव करता है।

मरणके भेदमरण दो प्रकारके होते हैं एक तद्भव मरण और एक आवीचि मरण। दोनों ही व्यवहारनयसे हैं। तद्भव मरण इस आयुका समाप्त हो जाना है अर्थात् इस भवसे वियुक्त हो जाना यह होता है तद्भव मरण। और आविची मरण क्या है कि प्रत्येक समयमें आयुके निषेक खिरते हैं और उनके खिरनेसे यह बात हो जाती है कि अब आत्मा तो इस समयको भी मरण गया है, अर्थात् जीवनका यह क्षण भी चला गया। आयु कम हो जाना, जीवनका वह क्षण चला जाना यही है आविचि मरण। ये दोनों मरण व्यवहारनयसे हैं। परमार्थतः इसका मरण जो हो रहा है वह यही है कि ज्ञानका पूर्ण विकास नहीं है, शुद्ध ज्ञानमात्र रह नहीं पाता। यही इस प्रभुका निरन्तर मरण है, किन्तु विशुद्ध परमार्थ दृष्टिसे निरखें तो यह अपने अन्तरके मरणहित अनादि अनन्त सदा नित्य प्रकाशमान बना हुआ है।

स्वयंकी स्वयंसे अत्यन्त दूरीका कारणभैया! जो अपने प्रभुको नहीं देख पाता है उसके लिए यह अपना प्रभु उतना दूर है जितना कि मुँहके आगे बरषाती झीनी चादर। चादरके आगे पानी भरा हुआ है पर स्वाद नहीं लिया जा सकता। ऐसा ही उसके लिए यह परमात्मा अत्यन्त दूर है। जिसकी ओर पीठ कर ली है उसकी ओर दृष्टि करना है और जिसकी ओर दृष्टि कर ली है उससे मुँह फेरना है। ऐसा उपयोग हो तो आत्मदृष्टिसे आत्मा का ग्रहण कर सकते हैं। अज्ञानी जीवके तो निज परमात्मत्वसे पीठ फिरी हुई है। यह जीव लोक जहाँ दृष्टि लगाये हैं वहाँ से पीठ फेर ले और जहाँ पीठ फेरे हुए है वहाँ पर दृष्टि लगा ले तो फिर उसके मुक्तिका उपाय बननेमें विलम्ब नहीं है। ज्ञानी पुरुष कुछ खेद करता है। तो वह अपने ज्ञान प्राणके मरण पर खेद करता है। वह शरीरके मरण पर खेद नहीं करता है। वह ज्ञानी पुरुष दुनियामें कोई अपनी कीर्ति नहीं चाहता है। वह ज्ञानी पुरुष लोकमें झूठा नाम फैलानेकी धुन करके अपनेको बरबाद नहीं करता है। वह इस शुद्ध ज्ञायस्वरूपका ही अनुभव करके तृप्त रहना चाहता है। उसके लिए मरण कुछ नहीं है। इस प्रकार ज्ञानी पुरुष मरणके भयसे निवृत्त होकर निःशंक होकर निज ज्ञानका ही अनुभव करता है।

अपवित्रता और पवित्रतासबसे बड़ा संकट है बहिर्मुखता, सबसे बड़ी मलिनता है बहिर्मुखता। यह सब व्यवहारसे है। आत्मा अपिवत्र बनता है तो बहिर्मुखदृष्टिसे। उस अपवित्रतासे कुछ नुक्सान नहीं है यदि अनाकुलता न हो, पर बहिर्मुखतासे ही इसके आकुलता आती है। सबसे बड़ी अपवित्रता है जीवकी बहिर्मुखता। जो अन्तमुर्ख है, अपने भीतरके वैभवको पहिचानता है वह पवित्र है, अपवित्रतर है। यह अमूर्त ज्ञानमात्र है, आकाशवत् निर्लेप है। यह ज्ञान प्रकाश इस ज्ञानीके ज्ञानमें आ जाय तो उससे बढ़कर पवित्रता कहीं लोकमें नहीं हो सकती है। यही सच्चा जीवन है, यही सच्ची आत्मबर्तना है इसके प्यासे होते हैं ज्ञानी पुरुष। ज्ञानीपुरुष परवस्तुके प्यासे नहीं होते हैं। बहिर्मुखता एक महासंकट है क्योंकि वह कोरा भ्रम है। जहाँ मिलना-जुलना कुछ नहीं केवल भ्रम भरी कल्पनाएँ बढ़ रही हैं, उनके विषय होते हैं परपदार्थ।

निर्भ्रान्तिमें अनाकुलताका दृष्टान्त—जैसे कोई पुरुष कुछ भ्रम करके दुःखी हो, रस्सी को साँप जान करके भ्रम करके घबड़ायेगा, पर जिसे मालूम है कि यह कोरी रस्सी है तो वह उस भ्रमी पुरुषपर बड़ी समीक्षा प्रकट करता है। अहो कुछ भी तो बात नहीं है, यह दुःखी हो रहा है। उसे समझाता है कि क्यों दुःखी होते हो, वहाँ तो कुछ भी नहीं है, कोरी रस्सी है। तब उसकी समझमें आता है, ऐसा लगता है कि अहो इतना समय व्यर्थ ही कल्पनामें बिताया है। इस घरमें तो कुछ डरकी बात ही न थी। जब ज्ञान जागृत होता है, वस्तुकी स्वतंत्रता विदित होती है, समस्त वस्तुवोंमें विविक्त यह आत्मतत्व ज्ञानमें आता है तब समझमें बात आती है कि अहो व्यर्थ ही इस भ्रमपूर्ण संकल्पमें विकल्पमें पड़कर इतना काल व्यतीत कर डाला। ज्ञानी पुरुषके यथार्थ ज्ञान होनेपर फिर शंका नहीं रहती है।

जागृतिमें काल्पनिक भयकी समाप्ति—जैसे किसीको स्वप्न आ रहा हो कि मैं जंगलमें जा रहा हूँ, सामनेसे सिंह आ रहा है, मुझपर आक्रमण करनेके लिए दौड़ रहा है, मैं चादर ओढ़े हुए अपनी जान चादरमें छिपाता जा रहा हूँ, पर उसने तो तीव्र हमला कर दिया, चादर भी नुच गया, ऐसा स्वप्न जब हा रहा हो उस ही प्रसंगमें घबड़ाकर ही नींद खुल जाय और आँख खोलकर देखता है कि मैं तो यहाँ अपने घरमें बड़े सजे सजाए कमरेमें बैठा हुआ हूँ, तो उसके भय एकदम समाप्त हो जाता है। क्या रंच भी शंका है अब उसके? नहीं है, क्योंकि जग गया है। इसी तरह जब तक मोहकी नींद इस ज्ञानीको दबाए हुए है, जब तक इसके पर्यायबुद्धि लगी है, जब तक यह ज्ञानस्वरूपको नहीं जान पाता तब तक इस पर्यायकी बिगाड़को यह अपना बिगाड़ मानता है। सो पर्याय तो अध्रुव है, उसका तो बिगाड़ नियमसे होता है। तो जब विनाशका, बिगाड़का, वियोगका समय आता है तब यह ज्ञानी बड़ा दुःखी होता है; क्योंकि मोहकी नींदमें परवस्तुका वियोग मान करके यह एक स्वप्न बना रहा है। कभी इसे बोध हो जाय। अहो कहाँ हूँ मैं इस शरीररूप? मैं तो चैतन्यमात्र यह सत् हूँ। इस प्रकार अपने शुद्ध स्वरूपका यथार्थ बोध हो जाय तो फिर इस ज्ञानी पुरुष को क्या मरणका भय सता सकता है? नहीं।

स्वरूपगृहीताके मरणभयका अभाव—भैया! सबसे बड़ा वैभव अपने स्वरूपकी पकड़। किससे बात करना, किससे सम्बन्ध बनाना, किससे दिल मिलाकर रहना, किसमें विश्वास बनाना? यहाँ तो परमाणुमात्र भी अन्य पदार्थ हमारी शरण नहीं है। उदयवश चलना फिरना पड़ता है, रहना पड़ता है। भूख-प्यासकी वेदना धर्ममार्गसे विचलित कर सकनेका भी कारण बन जाती है। उसकी व्यवस्था बनानी पड़ती है, हो रहा है सब कुछ, पर मेरा रिश्ता किसीसे कुछ नहीं है। ये सब भी बलायें हैं, विपत्तियाँ हैं, इन सबसे विविक्त निरापद अपने स्वरूपकी जो दृष्टि करता है वह ही पुरुष निःशंक रहता है। सर्वसे प्रधान भय मरणका भय है। मरणभय ज्ञानी पुरुषके नहीं रहता है। इन्द्रिय आदिक प्राणोंके विनाश को ही तो इस लोकमें मरण कहते हैं। और ये इन्द्रिय आदिक प्राण आत्माके परमार्थस्वरूप नहीं हैं। निश्चयसे इस आत्माका ज्ञान ही प्राण है। वह प्राण अविनाशी है, इस कारण

आत्माका मरण ही नहीं है। ऐसा स्पष्ट बोध रहनेसे ज्ञानी पुरुषके मरणका भी भय नहीं रहता। वह तो निःशंक होता हुआ अपने ज्ञानस्वरूपका ही स्वयं निरन्तर अनुभव किया करता है। यों ज्ञानी पुरुष मरण भयसे अत्यन्त दूर है।

लोकभयके अभावका पुनः संक्षिप्त विवरणसम्यग्दृष्टि जीव सातों भयोंसे रहित होता है। उन सातों भयोंमें से ६ प्रकारके भयोंका वर्णन हो चुका है, आज सप्तम भयका वर्णन चलेगा। इस ७वें भयका नाम है आकस्मिक भय। इससे पहिले ६ भय आ चुके थे। इह लोकभय अर्थात् मेरा इस लोकमें कैसे गुजार हो, कैसे नियम कानून बनेंगे, सम्पत्ति रहेगी अथवा नहीं। इहलोकमें सम्यग्दृष्टि जीवको भय नहीं होता। इस लोकमें उसे भय नहीं होता, क्योंकि इस दिखते हुए लोकको वह लोक ही नहीं मानता। अपने आत्माका जो स्वरूप है, स्वंय आत्मा है वह ही उसका लोक है। परलोकका भय यह कहलाता है कि परभवमें मेरी कैसी गति होगी, किसी खोटी गतिमें उत्पन्न हो गया तो फिर क्या गुजरेगा? इस प्रकारका भय करना परलोक भय है। ज्ञानी जीवको परलोकका भय यों नहीं होता है, क्योंकि उसके लिए परलोक, परलोक नहीं होता है, किन्तु पर अर्थात् उत्कृष्ट निजलोक मायने ज्ञायकस्वभाव ही मेरा परलोक है। वह जानता है कि मैं अपने इस ज्ञायकस्वभावमय उत्कृष्ट लोकमें रहता हूँ तो यहाँ कोई शंका ही नहीं आती है।

मरणभय व अत्राणभयके अभावका पुनः संक्षिप्त विवरणतीसरा भय है वेदना भय। शरीरमें पीड़ा होगी तो कैसी होगी ऐसी आशंका हो जाती अब क्या होगा? यह रोग बढ़ जायगा तो कैसी वेदना होगी, ऐसा ही डरनेका नाम वेदनाभय है। ज्ञानीको यह वेदना का भय नहीं होता है, क्योंकि वह जानता है कि जो ज्ञान वेदा जाता है वही तो वेदना है। वेदना किसी दूसरे तत्वका नाम नहीं है। वेदना शरीरमें नहीं होती है। वेदना आत्मामें होती है और वेदना ज्ञानकी वेदना होती है। वेदनाका अर्थ जानन है। किसी भी प्रसंगमें वह जानता है, किन्तु किसी परको न वह करता है, न भोगता है। जब वेदना मेरे स्वरूपसे बाहर ही नहीं है तो भय किसका हो उसे? ज्ञानी जीवको अत्राण भय भी नहीं होता है। मेरी रक्षा कैसे हो, मेरा रक्षक कोई नहीं है ऐसा वहम सम्यग्दृष्टि पुरुषके नहीं होता है, क्योंकि वह जानता है कि यहाँ भी मेरी रक्षा कर कौन रहा है? जब तक उदय अनुकूल चलता है चार आदमी मुझे पूछ लते हैं, अथवा वे चार आदमी भी पूछते नहीं हैं, वे भी अपने में कषाय भाव बनाते हैं और उन कषाय भावोंके अनुसार होने वाली चेष्टा हमारे सुखका निमित्तभूत होती है। ये भी कोई शरण नहीं है। तो अन्यत्र मेरा कौन शरण होगा? वास्तविक शरण तो मेरा मैं ही हू। मैं स्वतःसिद्ध हूँ, अतः अपने पास स्वरक्षित हूँ। सम्यग्दृष्टि पुरुषके अत्राण भय नहीं होता।

अगुप्तिभय व मरणभयके अभावका संक्षिप्त विवरणसम्यग्दृष्टिसे अगुप्तिभय भी नहीं है। जैसे लोगोंको यह भय हो जाता है कि हमारे घरकी भींत कच्ची है, ऊँची नहीं है, दरवाजा छोटा है तो शत्रु अथवा डाकू कहींसे भी आक्रमण कर सकते हैं। कैसे मेरी रक्षा हो, मैं तो अरक्षित हूँ।

ज्ञानी पुरुषके यह भय नहीं होता है, क्योंकि वह जानता है कि मैं अपने स्वरूपमें ऐसा गुप्त हूँ और अपने स्वरूपके ऐसे दृढ़ किलेमें रहता हूँ कि उसको कोई तोड़ नहीं सकता, भेद नहीं सकता। ऐसा ज्ञानी संतका दृढ़ निर्णय है, इस कारण उसे अगुप्तिभय नहीं रहता। छठवें भयका नाम है मरणभय। इसका वर्णन कल हो चुका था। ज्ञानीको मरणका भय इसलिए नहीं होता है कि उसे विश्वास है कि मेरा मरण ही नहीं हुआ करता, भय किसका माने? मेरा प्राण है ज्ञानदर्शन, जिसका उच्छेद नहीं होता। प्राणोंके उच्छेदका ही तो नाम मरण है। मेरे प्राणोंका विनाश नहीं है। मैं सदा ज्ञानदर्शनस्वरूप रहता हूँ। यदि प्राण ही मेरे चले जाएँ तो इसका अर्थ यह है कि मैं असत् हो गया अर्थात् मेरा कुछ भी न रहा। सो लोकमें ऐसा होता ही नहीं है कि जो उसका समूल अभाव हो जाय। ऐसा एक भी दृष्टान्त न मिलेगा। ईंधन है, जलकर राख हो जाता है पर उसका अभाव नहीं हो जाता है। उसके परमाणु धुवा बनकर सब फैल गए, कुछ परमाणु राखकी शक्लमें आ गए, और राख उड़ जाय तो उसके छोटे-छोटे कणके रूपमें सर्वत्र फैल गए। दिखे भी नहीं तो भी उसका सत्व कहीं नहीं गया। जितना सत् है, जितने परमाणु हैं, जितने पदार्थ हैं उनका तीन लोकमें भी अभाव नहीं हो सकता। मेरा कभी अभाव ही नहीं होता है। अज्ञानी तो मरणमें इस बातको रोता है कि हाय मेरा घर छूटा, हाय मेरे लड़के छूटे, हाय मेरे घरके लोग छूटे, इसका खेद उस अज्ञानीको होता है। ज्ञानीको रंच भी खेद नहीं है। मरणका भय उसे नहीं है।

ज्ञानीके आकस्मिक भयका अभावअब बतलाया जा रहा है कि इस जीवको आकस्मिक भय भी नहीं होता है। आकस्मिक भय उसे कहते हैं कि किसी ओरसे अकस्मात् कोई उपद्रव आ जाय, उपसर्ग आ जाय। पर ज्ञानी जानता है कि यह तो मैं ज्ञानस्वरूप ही हूँ। अनादि अनन्त हूँ, अचल हूँ, स्वतःसिद्ध हूँ। जब तक यह है कितना यह है उतना ही यह है। यहाँ दूसरी चीजका प्रवेश ही नहीं हो सकता है। किसी भी परपदार्थसे मुझमें आयगा क्या? अनादि कालसे अब तक मुझमें अनन्त कार्माणवर्गणावोंका पुञ्ज निमित्तनैमित्तिकरूपसे एक क्षेत्रावगाहरूपसे बँधनरूपको बनाता हुआ चला आया है तिस पर भी एक भी अणु मुझमें प्रवेश नहीं कर सकता। मेरे क्षेत्रमें प्रवेश कर गया हो, पर मेरे स्वरूप में प्रवेश नहीं कर सकता है। मैं वहीका वही रहा। एक बहुत मोटी बात है एक गिलास में पाव-पाव भर दूध और पानी मिला दिए गए, वे एक जगह आ गए फिर भी दूधके अंश में पानी प्रवेश नहीं कर सकता और पानीके अंशमें दूध प्रवेश नहीं कर सकता। जब सजातीय स्कंधोंमें भी बेमेलपना देखा जाता है तो ये तो अत्यन्त विजातीय पदार्थ हैं आत्मा और पुद्गलकर्म। वे कैसे एक हो सकते हैं? ऐसा इस ज्ञानी संतके दृढ़ निर्णय है, उसमें किसी चीजका प्रवेश नहीं होता है।

बहम, सितम, गजबअपने आपके प्रभुका जो शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। जिसका केवल वही निज स्वरूपास्तित्व है, जिसमें रंच भी आपत्तियाँ नहीं हैं, कष्ट नहीं हैं, क्षोभ भी नहीं है, ऐसे अपनपे परमपिता परमेश्वर कारणसमयसारकी दृष्टि न देकर यह जीव कितना विह्वल हो रहा है, कितनी

शंकाएँ मचा रहा है? आज कुछ गजब न ढा जाय। इस दुनियामें गजब क्या होगा? यही कि धनका नुक्सान हो गया। अरे इससे मुझ आत्मा पर क्या गजब है? धन तो पुद्गलका स्कंध है, आना जाना तो उसके स्वरूपमें है। वह यहाँ न रहा, किसी दूसरी जगह चला गया। क्या सितम ढा गया आत्मापर और गजब क्या कहलाता है? परिवारका कोई मर गया, बिछुड़ गया, चला गया, क्या गजब हो गया? तो तू यह भ्रम किए था कि ये मेरे कुछ हैं, थे कुछ नहीं। जैसे जगतके अनन्त जीव है वैसे ही ये परिजनके जीव हैं। इनसे मेरा रंचमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। फिर भी संकट क्या हुआ? बस उस भ्रमका सहारा टूट गया, इसीको गजब कहा करते हो ना? तुम्हारे बहमका आश्रय मिट गया यह तो आनन्दकी बात होना चाहिए था, कि लो अब मेरे विकल्पका आश्रय नहीं रहा, अब मैं अन्तरोन्मुख रह सकूँगा, पर इस जीवने अपने आप ही अपनेपर अपनी भूलसे सितम ढा रखा है। सितम कहते हैं जुल्मको और गजब क्या होगा? यही गजब हो सकता है कि दुनियाके लोग मेरा अपशय करेंगे, निन्दा करेंगे। यह तो जीवके गजबकी बात नहीं है।

निन्दामें विपत्तिका भ्रमभैया! धनके न होनेसे थोड़ा वर्तमानमें इतना क्लेश हो सकता है कि अब रोटी कैसे खायें, पेट कहाँसे भरें? अपने परिवारके लोग न रहनेसे थोड़ी यह बात अनुभवकी जा सकती है कि मुझे खाने पीने, नहाने धोनेको कौन आराम देगा? सो उनके उपयोगसे तो कुछ साधारणतया माना भी जा सकता है कि थोड़ी तकलीफ हो गई, पर एक-दो, दस या सर्व जगतके जीव एक स्वरसे मिलकर निन्दाकी बात कहने लगें तो उससे तो यहाँ कुछ बाधा नहीं हो सकती है। माननेके लिए तो जिस चाहे बातको बाधा मान लें। गजब और दुनियामें क्या होगा? एक बड़ा यह भी अपराध चल रहा है कि मोही मलिन पुरुषोंके सुखसे दो बातें सुनकर अपने आपको भूल जाते हैं और ज्ञानको गड्ढ़ेमें पटक देते हैं। उसे गजब नहीं मानते हैं।

स्वच्छन्दताकी अहितकारितामोही जीवोंको जो अपनेको परपरिणति प्रतिकूल लगता है उसे तो समझते हैं कि यह अनहोनी हो रही है और जो परपरिणति अपनेको अनुकूल जंचती है उसे मानते हैं कि यह बात तो मेरे जैसे नवाबके लिए होना ही चाहिए। पर ये सारे विभाव आत्मापर क्लेशके लिए ही आये हुए हैं। ये सब किसी परपदार्थोंसे नहीं आये, कर्मोंसे नहीं आये हैं। कर्मोंका उदय तो निमित्तमात्र है। ये विभाव मेरी ही अज्ञान परिणतिसे उठे हुए हैं। मुझपर कोई विपत्ति आती है तो मेरे ही अज्ञान परिणमनसे आती है, किसी अन्य पदार्थसे नहीं आती है। हममें आकस्मिक कोई विपत्ति ही नहीं है। किसी अन्यसे विपत्ति नहीं आती। हम अपनेको सम्हाले रहे सावधान बनाए रहें और मेरे ही किसी परिणामसे मुझे विपत्ति आ जाय सो ऐसा भी आकस्मिक उपद्रव नहीं है।

ज्ञान व आत्माका अभेदयह ज्ञान एक है, अखण्ड है, बिखरा हुआ नहीं है। स्वरूपको देखो तो इसमें लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई नहीं है। लम्बे, चौड़े रूपमें फैले हुए ढंगमें अनुभव होता है तो आनन्दका अनुभव होता है, किन्तु ज्ञानका अनुभव लम्बे-चौड़े फैले हुए ढंगसे नहीं होता है। फैले हुए ढंगसे ज्ञानका अनुभव होगा तो कितना ही लम्बा चौड़ा फैले हुए ढंगसे अनुभव होगा, पर

आनन्दका अनुभव होगा तो केवल आत्मप्रदेश मात्रमें हो जायगा। यह ज्ञान एक है, अखण्ड है, ज्ञानमय आत्मा एक पदार्थ है, अनादि है, अनन्त है, अचल है। ज्ञान अथवा आत्मा कहो, इसमें भेद न डालना। ज्ञानगुणका भेद वस्तुके निहारने का आनन्द खो देता है। यह ज्ञान स्वतःसिद्ध है। जब तक है तब तक सदा वही है। यह ज्ञान कब तककेलिए है इस ज्ञानपरिणतिकी बात कही जा रही है। इस ज्ञानस्वभावकी बात जो समग्र ज्ञान पदार्थका मूल स्रोत है, जहाँ अनन्त ज्ञानपरिणतिया निकलीं और निकलेंगी, फिर भी जिसका ज्ञानभण्डार कभी रिक्त नहीं होता है ऐसे उस ज्ञानस्वभावकी बात कही जा रही है। वह ज्ञानस्वभाव कब तक है? अनन्त काल तक है। जब तक है वह वही है, उसमें दूसरेका उदय नहीं है। इसलिए ऐसा भी कुछ नहीं है कि इस आत्मामें अकस्माद कोई नई बात उत्पन्न हो जाय।

आत्मामें अन्य किसीसे भयका अभावमुझमें जो हो सकता है वही होता है। जो नहीं हो सकता है वह त्रिकाल नहीं होता है। ऐसा विचार करनेसे अकस्मात् भय सर्व समाप्त हो जाता है। सभी द्रव्य हैं और अदने स्वरूपसे हैं, परिणमते हैं, और अपनेमें ही परिणमते हैं। ये चार विशेषताएँ प्रत्येक द्रव्यमें स्वरसतः पायी जाती हैं और इन्हीं विशेषतावोंके कारण यह लोकव्यवस्था बन रही है। यदि कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यको अपना स्वरूप, अपनी शक्ति, अपनी परिणति कुछ भी देने लगे तो यहाँ संकर व्यतिकर हो जायगा, कोई पदार्थ फिर रहेगा नहीं। एकने दूसरेको बोला, उसने दूसरेको बोला। यदि दोनों ही परस्परमें एक दूसरेको बदलने लगें तो संसारमें कुछ न रहेगा। यह सारा विश्व आज तक है, यह इस बातका प्रमाण है कि प्रत्येक द्रव्य स्वतःसिद्ध हैं और अपनेमें परिणमते रहते हैं। इस प्रकृतिको कोई भी पदार्थ कभी भी छोड़ नहीं सकता। जब वस्तुस्थिति ऐसी है तब मुझमें किसी दूसरे पदार्थसे उपद्रव आ जाय, यह कैसे हो सकता है?

दुःखका कारण स्वकीय अपराधहम जब जब दुःखी होते हैं तब-तब अपने अपराध से ही दुःखी होते हैं। दूसरेके अपराधसे हम दुःखी हो सकें ऐसा त्रिकाल भी नहीं हो सकता है। कोईसी भी घटना ले लो, किसी भी प्रसंगमें हम दुःखी हैं तो अपना ही अपराध विचारें। अपने अपराध बिना हम दुःखी नहीं हो सकते हैं। दुःख ही एक अपराध है, उस अपराधको कोई दूसरा नहीं कर सकता है। मोटे रूपसे कहा भी है कि एक हाथसे ताली नहीं बजती। अपराध वहाँ दोनोंका होता ही है। तो दोनोंके अपराधमें ऐसा नहीं है कि अन्यके अपराधसे अन्य कोई दुःखी होता हो। दोनों ही अपराध करते हैं और दोनों ही अपने-अपने अपराध से दुःखी होते हैं। ऐसी एक घटना ले लो कि कोई मुनिराज शांत स्वभाव से बैठे हुए हैं और अनेक लोग उन्हें गालियाँ दें, निन्दा करें और कभी मारपीट भी करें, अनेक दुःख भी दें, अब बतलावो कि वे मुनिराज दूसरेके अपराधसे दुःखी हो रहे हैं ना, अरे ऐसी बात नहीं है कि कोई मुनिराज किसी दूसरे पुरुषके अपराधसे दुःखी हो जाय। वे अपने अपराधसे ही दुःखी हुए, प्रथम तो अपने स्वरूपसे चिगे, यह दुःख है, यह अपराध है। अब और देखो वह ज्ञानी संत ज्ञानदेव को मिटाकर उस दुःख पर्यायमें जो आया है उसके दुःखी होनेका

अपराध बहुत पहिलेसे चला आया। कभी कषाय किया था जिसके निमित्तसे इस ही प्रकारके कर्मोंका बँध हुआ, और उस बद्ध कर्मके उदयका ऐसा निमित्त जुड़ा कि क्लेश हुआ। तो उस जीवके पहिले समयमें अपराध हुआ था जिस प्रकारकी परम्परामें इसे आज आकुलित होना पड़ा।

दुःखमें वर्तमान अपराधभैया! और कहा जा सकता है कि ये तो पहिले भवके अपराध आप कहे जा रहे हैं, इस ही भवके अपराध बतावो जीवके अपराध हो सकते हैं। किसी दुश्मनने सताया है आज वह शांत है। तो दुश्मन बना कब था, किस घटनामें बना था? जैसे पाण्डवोंको उनके वंशके या कौरवके वंशने उनकी मुनि अवस्थामें तप्त गरम लोहे के कड़े पहिनाए। उन पाण्डवोंका अपराध इस ही भवका था कि उन्होंने युद्ध किया। उस युद्धमें उनके इष्ट जन हार गए, मर गए तो बदला चुका रहे हैं। जिसने इस भवमें किसीके साथ कोई व्यवहार न किया हो और फिर भी उसे दुःख मिले तो इसमें अपराध क्या है? उत्तर पहिला अपराध यह है कि वह बहिर्मूख बन रहा है, अपने उपयोगसे चिगकर किसी बाह्यपदार्थमें अपना उपयोग लगा रहा है, यह उसका एक विकट अपराध है। तो जितने भी जीव हैं वे सब अपने ही अपराधसे दुःखी होते हैं, दूसरेके अपराधसे कोई नहीं दुःखी होता है। क्योंकि किसी दूसरेकी परिणति मेरे आत्मामें प्रवेश नहीं पा सकती है। यह ही आत्मा संतोषमें न रहा और बाह्य पदार्थोंमें विकल्प करके व्यर्थकी झूठी पोजीशनमें सार समझकर मायावी पदार्थोंमें विकल्प करनेका ऊधम करो तो इस ऊधम करनेका फल तो कोई दूसरा भोगने न आयगा। जो अपराध करता है वही दुःखी होता है। अपराध किसी दूसरे पुरुषसे नहीं प्राप्त होता है।

ज्ञानदृष्टिमें निर्भयतायह ज्ञान स्वतःसिद्ध है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, इस ज्ञानमय आत्मामें किसी दूसरेका उदय ही नहीं है। मेरा ज्ञान ही काम है। स्वरसतः ही मेरी परिणति है, उस जाननस्वरूपमें राग तकका भी उदय नहीं आता है। परवस्तुकी बात तो दूर रही। इस जाननस्वरूपमें इस जाननभावके अतिरिक्त किसी अन्य गुणका विलास तक नहीं आ पाता है। अन्य पदार्थोंकी तो गति ही क्या है? तब इस मुझमें किसी भी दूसरे पदार्थसे कोई वृत्ति नहीं आती है। तब भयकी कौनसी बात है? ऐसी वृत्ति साधारणतया सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषके होती है। अपना ही बल अपनी मदद कर सकेगा। दूसरे का बल मेरे किसी कामका नहीं है। अपने ही वस्तुस्वरूपके निर्णयसे उत्पन्न हुए ज्ञानबलका भरोसा रखना चाहिए। इस मुझ आत्मामें कुछ आकस्मिक होता ही नहीं है तब भय कहाँसे उत्पन्न हो? ऐसा निर्णय रखने वाला ज्ञानी पुरुष निःशंक रहता है और सदा सहज ज्ञानस्वरूपका अनुभव किया करता है। सहज ज्ञान कहते हैं जो आत्माके सत्वके साथ ही हो। जबसे आत्मा है तबसे स्वरूप जो बना हुआ हो उसे सहज कहते हैं। जो वस्तुका निजस्वरूप है वही वस्तुका सहजभाव है। मेरा यह ज्ञानस्वभाव ही सहज पारिणामिक भाव है।

सहजता और पारिणमिकताका अविनाभावसहज और पारिणामिक इन दो शब्दोंका अविनाभावी जोड़ाहै। सहज पारिणामिक होता है और पारिणामिक सहज होता है। सहजका अर्थ

है जबसे वस्तुका सत्व है तबसे जायमान है वह सहज है। और पारिणामिकका अर्थ है कि जिसका परिणमन ही प्रयोजन हो अर्थात् जिसपर परिणमन तो चल रहे हैं, पर जो ज्योंका त्यों है उसे पारिणामिक कहते हैं। ज्ञानस्वभाव सहजपारिणामिक भाव है, इसकी दृष्टि निकट संसारी जीवको होती है, भव्य जीवको होती है। जिसने इस आत्मदर्शनकी उपलब्धि की वह कृतकृत्य हो गया और जिसने इस आत्मदर्शनको न पाया, पुण्यके उदयसे कितना ही महान वैभव पाया हो वह समस्त वैभव इस जीवके हितका कारण नहीं है, प्रत्युत अहितका ही कारण है। यह ज्ञानी जीव समस्त परपदार्थोंकी ओरसे निःशंक रहता है, उसके किसी भी प्रकारका कोई विकल्प नहीं हो सकता है। आँधी चले, आग जले, तूफान चले, सारे लोकमें हो हल्ला मचे पर यह ज्ञानी तो आकाशवत् निर्विकल्प ज्ञानमय आत्मस्वरूपको देखता है।

ज्ञानीकी निःशङ्कताज्ञानी संत समझता है कि मेरे आत्मामें किसी भी परपदार्थ का प्रवेश नहीं है, मैं कहाँ यहाँ वहाँ मुँह उठाऊँ? जैसे सारे नगरमें करफ्यू मच गया खिड़कीसे जो झांके उसीके गोली मार दो यह ऑर्डर होता है। तो जिसने खिड़कीसे बाहर सिर निकाला उसके गोली लगी। तो इस प्रकारसे तुम बाहर कहाँ ढूकते हो, यहाँ करफ्यू चल रहा है, जगतमें महान् उपद्रवरूपी परपदार्थोंका ही हल्ला मच रहा है तो मचो तुम कहाँ अपने ज्ञानानन्दमय गृहसे चिग कर बाहर ठूकते हो। ज्ञानी देख रहा है कि मैं तो अपने परमविश्राम गृहमें हूँ, इस मुझ आत्मामें किसी भी परपदार्थसे कुछ उपद्रव नहीं आता है। सो वह निःशंक होता हुआ संत निज सहज ज्ञानस्वभावका ही अनुभव करता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव ७ प्रकारके भयोंसे रहित है। ऐसी निर्भयता और निःशंका ही इस सम्यग्र्दशनका प्रथम अंग है। यह निश्चयसे निःशंकित अंगका स्वरूप चल रहा है।

ज्ञानीका उद्यम–सम्यग्दर्शनके ८ अंगोंके सप्तभयरहित अवस्थाको बताया गया है। इसी प्रकार ७ अंगोंका भी वर्णन है। अभी प्रथम अंगका प्राकरणिक लक्षण नहीं आया है, किन्तु प्रथम अंगमें जो भयरहित अवस्था होती है उस अवस्थाका वर्णन किया है। सम्यग्दर्शनके निःशंकित आदि सर्व चिह्न समस्त कर्मोंको हनन करते हैं अर्थात् कर्मोंकी निर्जरा करते हैं। और जिस कर्मका बँध पहिले होता था उसके उदयको भोगते हुए उस सम्यग्दृष्टि ज्ञानीके नियमसे निर्जरा होती है। कर्मोंकी निर्कराका कारण है कि कर्मोंका लगाव रखने वाले भावोंका अभाव हो जाय। यह जीव कर्मोंसे स्वरसतः न्यारा है। कर्मोंसे न्यारा करने का और श्रम नहीं करना है। व्यर्थका जो श्रम कर्मोंके आनेका हो रहा है उस श्रमको दूर करना है। इस जीवमें ऐसी मोहबुद्धि पड़ी हुई है कि यह मोहवश है, राग हो रहा है। इस जीवका जीव ही है। जीवका परमाणु मात्र भी कुछ नहीं है। जीवका चतुष्टय जीवमें ही है, उसका कुछ भी उससे बाहर नहीं है।

अनन्त प्रभुवोंपर अन्यायये दिखनेमें आने वाले जो मायामय स्वरूप मनुष्यादिक हैं इनसे कहीं मेरा कुछ सुधार न हो जायगा। पर पर्यायबुद्धि ऐसी अपवित्रता है कि जहाँ सार भी नहीं है और चाह रहे हैं कि दुनियामें मेरा नाम हो जाय। जिसका जितना प्रसंग है, जितनी पहुँच है उतने

घेरेके बीच यह चाहते हैं कि मैं दुनियामें अच्छा कहलाऊँ। तो सब लोगोंमें अच्छा कहलाने की इच्छा होनेका अर्थ यह है कि अन्य जो भगवान हैं, जीव हैं उनका आघात कर रहे हैं। मैं इन सबमें अच्छा कहलाऊँ इसके मायने हैं कि ये सब लोग न कुछ रहें, छोटे रहें, तो इन अनन्त भगवानोंपर हमला किया कि नहीं? जो भगवानोंपर हमला करेगा उसका क्या भला होगा? लोगोंमें अपना नाम बड़प्पन कहलवा लेना इसका भाव यही है कि तुम इन सबको ठुकराना चाहते हो। सबको ऊँचा देखनेका भाव हो इसमें न्रमताकी वृत्ति बनती है। मैं सबमें लीन हो जाऊँ, मुझे कुछ अपना बड़प्पन नहीं दिखाना है, ऐसी भावनामें तो इसकी प्रगति है, और मोहवश यह जीव उल्टा चाहता है कि मेरा लोकमें कुछ बड़प्पन बने। अरे इस लोक और संसारको ही मिटानेकी आवश्यकता है। जब तक संसारमें रहेंगे तब तक चतुर्गतियोंमें भ्रमण ही करना पड़ेगा, फिर कुछ न मिलेगा।

ज्ञानदृष्टिके अभावमें विकट आधिभैया! ज्ञानकी बात तो यह है कि अपने यथार्थ स्वरूपका निर्णय कर लें, हमारा स्वरूप आकाशवत् निर्लेप अमूर्त केलव ज्ञानमात्र है। इस स्वरूपकी ओर जिसकी दृष्टि रहती है जो इस स्वरूपके उन्मुख होता है वह संत पूज्य है। ज्ञानियोंके ज्ञानका मार्ग पवित्र और गुप्त है। इस असार संसारमें अपने पर्यायका नाम जाहिर कर देनेकी बुद्धि बिल्कुल निष्फल जाती है। प्रथम तो इस धनकी तृष्णाका थाह नहीं है। हजारपति हों तो लखपति होना चाहते। लखपति हों तो करोड़पति होना चाहते। जो करोड़पति हैं वे सुख चैनसे नहीं खा पाते हैं। वे उससे ज्यादाकी धुनिमें हैं। कोई ऐसा धनिक नहीं है एक ज्ञानी पुरुषको छोड़ करके कि जो किसी धनसे संतोष तो कर सके। इसी प्रकार जगतमें नाम बढ़ानेकी तृष्णाकी भी थाह नहीं है। मोहल्लमें मेरा नाम रहे, हो गया, तो अब सारे देशमें नाम हो, लो हो गया, अब देशसे अतिरिक्त विदेशोंमें नाम हो, हो गया, सारे लोकमें नाम हो। जैसे धनकी तृष्णाकी थाह नहीं है इसी तरह नामकी चाहकी तृष्णाकी भी थाह नहीं है। जैसे धनमें तृष्णा करना व्यर्थ है क्योंकि सब छूट जायगा। और वर्तमानमें भी जब तक धनका साथ है तब तक भी कुछ संतोष आराम सुख नहीं है। और जिन्हें संतोष है उन्हें धनके कारण संतोष नहीं है, किन्तु ज्ञानके कारण है। इसी तरह मर मिटे, लो नाम गया। यह जीव मरकर मान लो घोड़ा बन गया और यहाँ नाम बहुत फैला हुआ है, जगह-जगह कीर्तिस्तंभ बने हैं, बड़े-बड़े बोट साइन लगे हैं तो लगे रहें, वहाँ तो उस जीव पर कोड़े पड़ रहे हैं। नामवाला जब तक जीवित है तब तक भी आरामसे नहीं रह पाता है।

नामकी चाह अनन्तप्रभुवोंपर अन्यायज्ञानका मार्ग जिन्हें मिलता है वे ही आराम पा सकते हैं। अज्ञानमें तो आराम है नहीं। और फिर मोटी बात यह है कि लोकमें नाम चाहनेका अर्थ यह है कि मैं बड़ा कहलाऊँ और ये सब न कुछ रहें, तुच्छ रहें। तो इसका अर्थ क्या यह नहीं हुआ कि तुमने हजारों भगवानोंपर आघात किया? एक पर्यायबुद्धिमें बहकर अज्ञानमें मानी हुई कुमतिके पथमें होकर इन सब प्रभुवोंपर आक्रमण कर रहे हो। ये न कुछ रह जायें, मैं इन सबमें बड़ा कहलाऊँ यही तो चैतन्य भवगत् स्वरूपका आघात है। इतना अपराध करनेमें फलमें क्या यह आरामसे रह

सकेगा? कोई किसी दूसरेपर अन्याय करता है तो वह भी व्यथित रहता है और जो अनन्त प्रभुवोंपर अन्याय कर रहा है, उनका आघात कर रहा है, तो अपनी कुमतिके भावोंसे क्या वह आरामसे रह सकेगा? नहीं। यही कारण है कि नाम चाहने वाला कभी सुखसे नहीं रह सकता।

नामचाहकी व्यर्थताधन तो कदाचित् कुछ पीड़ा हरनेका हेतुभूत हो सकता है, कदाचित् अपने व्यवहारधर्मके चलानेमें सुविधाका आश्रय हो सकता है, क्योंकि स्वास्थ्य अच्छा रहे तो धर्मकी साधनामें सहायता मिलती है, पर नामसे क्या मिलता है? नाम चाहने वाले लोग इसी कारण आरामसे नहीं रह सकते हैं। यह पिशाच ऐसा विकराल पिशाच है कि इसके फन्देमें कोई आ तो जाय, फिर यह जीवन भर सुखसे नहीं रह सकता है। कभी ज्ञानकी झलक ऐसी आए कि अपनी पर्यायको भी अपने स्वरूपसे उपयोग द्वारा दूर निकाल फेंके और केवल पारिणामिक भाव स्वरूप निज चैतन्यस्वरूपका आदर रखे तो इसको शांति हो सकती है।

अष्टाङ्गोंकी अशुचिविनाशकतायहाँ सम्यग्दर्शनके ८ अंगोंका वर्णन चलेगा। उन ८ अंगोंमें शुद्ध भावोंकी घोषणा है। शुद्ध भावको धर्म कहते हैं। जो अशुद्धताएँ हैं उनको हटालो शुद्धता प्रकट हो जाय। शंका करना, भय करना यह अशुद्धता है। उसके हटनेसे निःशंकित अंग प्रकट होता है। इच्छा करना, निदान बाँधना, इच्छाकी चाह करना, परके उन्मुख बनना ये सब संकट हैं, अपवित्रताएँ हैं। इन वाञ्छावोंको दूर करनेसे निकांक्षित अंग प्रकट होगा। किसीसे ग्लानि करना उसको तुच्छ समझे बिना नहीं हो सकता है। किसीको तुच्छ समझा जाय तभी तो उससे ग्लानि हो सकती है। यही अपवित्रताका परिणाम है। यह ग्लानिका परिणाम दूर हो इससे निर्विचिकित्सित गुण प्रकट होता है। अपवित्रताएँ हटानेका ही नाम रत्नत्रय है। सम्यग्दर्शन अपवित्रता दूर होनेसे, मिथ्यात्व दूर होनेसे प्रकट होता है। सम्यक्चारित्र मिथ्याचारित्रकी अपवित्रता दूर होनेसे प्रकट होता है। अपवित्रताएँ दूर हुईं कि इसमें यह अंग प्रकट होने लगता है। मोह बुद्धि होना, मुग्ध हो जाना, विवेक खो देना, जिस चाहे के पीछे लगना, अमुक देवसे हित होगा, अमुक गुरुसे हित होगा, वह देव है या कुदेव है, वह गुरु है या कुगुरु है इसका भी कुछ निर्णय न होना, ये अब अपवित्रताएँ ही तो हैं। इन अपवित्रतावोंका न होना मूढदृष्टि अंग है। कुगुरु किसे कहते हैं, कुदेव किसे कहते हैं कि देव तो न हो, गुरु तो न हो और देव गुरु माना जाय वही तो कुदेव और कुगुरु है।

कुदेवत्वका आधार निजका विकल्पभैया! देव तो यहाँके लोग भी नहीं हैं तो क्या ये कुदेव कहलाने लगे। जो देव नहीं है उसे कुदेव कहेंगे क्या? नहीं। जो देव नहीं है और उसे देव मानें तो कुदेव है तो कुदेवपना दूसरे प्रभुमें है या उस मानने वालेके आत्मा की बुद्धिमें है? दूसरा तो जो है सो है। आप भी देव नहीं हैं और स्त्री पुत्र रखने वाले जो लोग प्रसिद्ध हो रहे हैं वे भी देव नहीं है। सो देव नहीं है यह तो ठीक है पर हम लोगोंका नाम कुदेव नहीं पड़ता है और उनका नाम कुदेव पड़ा। तो इसमें कारण वे नहीं हैं, इसकी मान्यता है। स्वरूप तो ज्ञानमें आ रहा है, परिचयमें आ रहा है कुदेवपनेका और मान्यता बना रहे हैं देवपनेकी, इसीको कहते हैं कुदेव। और

इस पद्धतिसे जो ऐसी जगह है क्षेत्रकी जगह मान ली है कि वहाँ जावो तो अपना कार्य सिद्ध होगा, पुत्र होंगे, विवाह होगा, मुकदमा जीतेगा, ऐसी बुद्धि रखकर मानना यह भी कुदेवपना हुआ कि नहीं? यह भी कुदेवना हुआ, क्योंकि कुदेवत्व तो परमें नहीं है। यह कुदेवत्व मानने वालेकी बुद्धिमें है। ये सुख-दुःख देंगे ऐसा स्वरूप मानते हो, फिर उसे महावीर स्वामी बोलें तो कुदेवका स्वरूप तो परिचयमें आ रहा है और देव मान रहे हैं तो इसमें कुदेवत्व करना पड़ा की नहीं? यह बात औरोंके प्रति है कि देव स्वरूप नहीं है। स्त्री रखे हैं, शस्त्र रखे हैं, शंख चक्र रखे हैं, युद्ध करवाते हैं जहाँ चाहे मौज उड़ाते हैं, यह देव स्वरूप नहीं है और देव माने उसे कुदेव कहते हैं। ऐसे ही सर्वत्र घटा लो। शुद्ध दृष्टि न होना सो मूढ़दृष्टि है। मूढ़दृष्टि अपवित्रता है। अपवित्रता के अभावका नाम है अमूढ़ दृष्टि।

उपगूहन अंगका मर्मदूसरेके दोषोंको प्रसिद्ध करना, धर्मात्मा जनोंके दोषोंको प्रकट करना यह अपवित्रता है। क्यों अपवित्रता है कि धर्ममें कलंक लगता है। यदि कोई अपने धर्मका रूप रखे हो और दोष करता हो तथा अनेक बार विधिवत् समझानेपर भी दोष न छोड़ता हो तो उसके प्रति यह मेरा साधु नहीं है ऐसी प्रसिद्धि करो, फिर दोष कोई प्रकट करो तो धर्ममें कलंक न लगेगा। यह भी दुनियाको बताओ कि यह मेरा साधु है, यह मेरा गुरु है, यह मेरा साधर्मी है और फिर दोष कहो तो यह अपवित्रता है। एक बार निर्णय दे दिया कि यह उस लाइनका है नहीं, यह धर्मात्मा नहीं है, फिर दोष कहो तो धर्म में कलंक नहीं है। अपना भी माने और दोष भी लोकमें प्रकट करे तो यह धर्मपालनके विपरीत बात है, यह अपवित्रता है। कोई किसीपर अन्याय करे, धर्मात्माके दोष दुनियामें प्रकट करे तो क्या यह एक व्यक्तिपर अन्याय है? नहीं। सारी जनतापर अन्याय है। यह जनता श्रद्धासे हट गई। धर्ममें कुछ लगनेकी जिसकी भावना है वह यह सोचेगा कि यहाँ तो ऐसा ही होता है, कुछ यहाँ तत्व नहीं है यों सोचकर वह श्रद्धासे चिग गया है। तो इसमें उसने हजारों लाखोंपर अन्याय किया। जिसने धर्मात्माका दोष प्रकट किया उसने उन भगवंतोंपर अन्याय किया। यह अनुपगूहन अपवित्रता है। इसके नाश होनेको उपगूहन कहते हैं।

स्थितिकरणका मर्मजिसमें बल है, सामर्थ्य है ऐसा पुरुष दूसरे धर्मी पुरुषोंको धर्मसे विचलित देखे और उनको सहयोग न दे, उनको धर्ममें स्थिर न करे और देखता जाय, तो उसके धर्मकी तीव्र रुचि नहीं है। जिसे धर्ममें रुचि होती है वह जानता है कि जो अपने धर्मको सम्हाले, अपने स्वभावको सम्हाले वह पुरुष संकटोंसे दूर हो जाता है। वहाँ यह नहीं है कि दूसरे मोक्ष जाने वाले तैयार हैं तो हमारे मोक्षका नम्बर देरसे आए। उसमें रुकावट नहीं होती है। बल्कि उस धर्मपथपर जाने वालेके प्रति अनुकंपा व गुणस्मरण जगता है तो अपने धर्ममें प्रगति होती है। विचलित होने वाले पुरुषको धर्ममें स्थिर कर देना यही अपवित्रताका विनाश है और गिरते हुएको धक्का लगा देना यही अपवित्रता है ईर्ष्या। अविवेक जब जगता है तब जाकर ऐसी परिणति होती है कि हो रहा हो है तो हो रहा है। गिर रहा है तो गिरने दो। उसे छोड़ देनेसे वह और गिर गया।

मनुष्यका सर्व कुछ बल वचनोंमें है। वचनोंसे ही किसीको सम्हाल ले और वचनोंसे ही किसीको गिरा दे। तन, मन, धन, वचन इन सबमें वचनकी चोट बहुत बुरी होती है। ओर लगता भी कुछ नहीं है। लेकिन अविवेक का जब उदय है तो अपने वचन अपनेसे सम्हाले नहीं जा सकते हैं। कषाय भीतरमें भरी हो तो वचनोंको ऐसे निकल जाना ही पड़ता है। इन्हीं वचनोंके द्वारना बड़ा अनर्थ हो जाता है और इन्हीं वचनोंके द्वारा लोगोंकी सम्हाल हो जाती है। गिरते हुए जीवको गिरने देना, देखते रहना, यह भावना न हो कि इसको सहयोग दूं और इसका परिणाम स्थिर हो जाय, तो इसे कहते हें अपवित्रता। पहिले समयमें स्थितिकरणका बड़ा यत्न होता था। आजके युगमें जुदी-जुदी खिचड़ी पकाने जैसा ढंग बढ़ गया है। बहुत समय व्यतीत हो जाता, यह पता नहीं रहता कि हमारे मोहल्लेमें धर्मीजन कितने रहते हैं। पड़ोसमें भी इतना पता नहीं रहता है। पढ़े लिखे, ज्ञानी, संत, समझदार गृहस्थ लोगोंका पता ही नहीं है कि कहाँ कौन है? तो ऐसी अस्थितिकरण होने जैसा ढंग अपवित्रता है और इस अपवित्रताके अभावको स्थितिकरण कहते हैं।

इन सब दोषोंमें और है क्या? शुद्ध भाव। प्रेम परस्परमें न रहना, प्रेमके बजाय विद्वेष बढ़ जाना, एक दूसरेको न सुहाना ये सब कहलाते हैं भावजन्य अपवित्रता। निज शुद्ध चेतनका बोध हो तो उस शुद्ध चैतन्य स्वरूपके दर्शन हों। और ऐसी प्रीति जगे कि अहो यहाँ तो सर्व समानता है। जो मैं हूँ सो ही सब हैं। भगवानके लिए ऐसा कह लिया जाता है कि जो भगवान सो अहं। जो भगवान हैं सो मैं हूँ और अपने धर्मीजनोंके प्रति इस बातकी झलक न आ सके कि अहो सब एक ही तो मामला है। वही सर्वत्र विराजमान है। जो यह है सो मैं हूँ, जो मैं हूँ सो यह है। साधर्मी जनोंसे ऐसा जो घुलमिल न सके उसे अपवित्रता कहते हैं। न घुल-मिल सके तो न सही, पर अपना ज्ञान तो सही बना लेना चाहिए। जिसे अपने चैतन्यस्वरूपका दर्शन हुआ, मुक्तिका मार्ग मिला वह उस मार्गसे चल कर वहाँ घुल-मिल सकता है। ऐसा वात्सल्य ज्ञानी संतोंके होता है। साधर्मी जनोंपर अवात्सल्य रखना यह दोष है, और इस दोषके अभावमें सम्यग्दर्शनका वात्सल्य गुण प्रकट होता है।

अप्रभावनाकी अपवित्रतालोगोंके बीचमें धर्मात्माजन देखे जा रहे हों और उन धर्मात्माजनोंके प्रति अपनी जिम्मेदारी न समझें, अपने हितकी बातपर जोर न दे सकें और यथातथाा प्रवृत्तियाँ कर डालें यही है अप्रभावना। धर्मकी प्रभावना धर्मात्माजनोंके चरित्र द्वारा होती है। सदाचारका एकदम सीधा प्रभाव पड़ता है। पहिले समयमें खजांची प्रायः जैन ही पुराणोंमें सुने गए हैं। इतिहासमें मुगल बादशाह हुए तो क्षत्रिय बादशाह हुए तो खजांची, कोषाध्यक्ष अथवा सलाहकार संख्याके अनुपातसे कई गुणा अधिक जैन लोग हुए। और कचहरीमें गवाही देने वाला जैन है इतना ज्ञात होते ही इसकी गवाहीमें कई गुणा बल आ जाता था। कारण यह था कि ज्ञान था, वैराग्य था, उदारता थी, संयमका पालन था, बाह्य सदाचार, अंतरंग सदाचार उन सबका प्रभाव था। आज देशके आगे अब वह स्थिति नहीं रही। यह सब अप्रभावना दोषका फल है। तो अप्रभावना अपवित्रता है। इस अपवित्रताके अभावमें प्रभावना अंग प्रकट होता है।

सम्यक्त्वकी विशेषतासम्यग्दर्शनके ८ अंग आत्माके शुद्धभाव हैं और ये ही समस्त लक्षण सम्यग्दृष्टिके कर्मोंको नष्ट करते हैं, क्योंकि इस सम्यग्दृष्टि पुरुषने टंकोत्कीर्णवत् निश्चल अपनेही स्वभावसे एकत्रित उपयोगमें बसाये गये ज्ञान सर्वस्वको प्राप्त कर लिया है सो अब कर्मोंके आस्त्रव बँधका कारण नहीं रहा। अतः निर्दोष सम्यग्दृष्टि पुरुष समस्त कर्मों को दूर करता है। सो अब उनके कर्मोंका ही बँध नहीं रहा और जो पूर्वभवमें अज्ञानसे कर्म बँध थे उनका उदय आ रहा है और विपाक कालमें अनुभव भी हो रहा है, क्लेश भी आ रहा है पर समतापरिणामसे उन सबको भोग रहे हैं, टाल रहे हैं इसलिए पूर्ववद्ध कर्मों की भी उनके निर्जरा ही होती है। अब इसके बाद सम्यग्दर्शनके ८ प्रकारके दोषोंके लक्षण का विवरण सहित क्रमसे वर्णन चलेगा।

अब निःशंकित अंगका स्वरूप कह रहे हैं।

जो चत्तारिवि पाए छिददिं जे बंधमोहकरे।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वा॥ २२९॥

जो पुरुष अर्थात् आत्मा कर्मबंधके कारणभूत मोह भावको उत्पन्न करने वाले मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, इन चार पादोंको निःशंकित होता हुआ काटता है उसे सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

संसार विष वृक्षका मूलमिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, ये चार संसारवृक्ष के मूलभूत हैं। संसार इन ही परिणामोंका नाम है, जिनमें मुख्य है मिथ्यात्व। अपने आत्मा के स्वरूपका यथार्थ परिचय न हो और बाह्य पदार्थोंको अपना स्वरूप माने यह सब मिथ्यात्व भाव है। जब यह जीव इतनी बड़ी भूलमें रहता है कि जिसे अपने और परायेका भी ठीक ठिकाना ज्ञात नहीं है तो उसका काम संसारमें रुलना ही है। और मिथ्यात्व होता है तो अविरति कषाय और योग भी पुष्ट होता है। मिथ्यात्वके नष्ट हो जानेपर भी कदाचित् कुछ समय तक अविरति कषाय और योग रहता है, किन्तु मिथ्यात्वके अभावमें अविरति आदिकमें वह जोर नहीं रहता है जो मिथ्यात्वके होनेपर रहता है। यह अविरतिभाव मिथ्यात्वके साथ हो तो उसमें अधिक जोर रहता है। जहाँ यह ही पता नहीं है कि विषयोंसे रहित केवल शुद्ध ज्ञानदश्नमात्र मैं हूँ तो वह अविरतिके भावमें ही अपना हित मानेगा सो अधिक आसक्त होगा। जो मिथ्यात्वसे रहित ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव है उसके जब तक अप्रत्याख्यान कषायका उदय चलता है तब तक अविरति भाव होता है, किन्तु उस अविरति भावमें रहकर भी, विषयोंकी साधना करते हुए भी हटाव रहता है, वियोगबुद्धि रहती है कि मैं कब इससे अलग हो जाऊँ? इसी प्रकार कषाय भावकी भी यही बात है। योग भी मिथ्यात्वके मूलसे चलकर आगे भी सिलसिला बनाये रहता है। इस प्रकार इन चारोंका बँधन मिथ्यात्वमें दृढ़ रहता है। मिथ्यात्वके अभावसे इन तीनोंका बँधन शिथिल हो जाता है।

निरंग-निस्तरंग आत्मामें रंग व तरंगका कारणभैया! द्रव्यकर्म और भावकर्म व क्षेत्रांशान्तर रूप प्रदेश, क्रिया इन तीन क्षेत्रांशके प्रकारके कर्मोंसे रहित आत्माका स्वभाव है, पर इस मिथ्यात्व,

अरति, कषाय और योगके निमित्तसे द्रव्यकर्मका भी संचय होता है, भावकर्म भी प्रकट होता है और क्षेत्रसे क्षेत्रांतर रूप क्रिया भी चलती है। यों यह कर्मोंका करने वाला होता है। इसी प्रकार मोह कषायको भी उत्पन्न करनेके कारण है। ये चारों पाद हैं मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग।

आत्मद्रव्यका निरखलआत्मद्रव्य मोहरहित है, यह तो शुद्ध प्रतिभासमात्र है। जैसे पुद्गलके ढेलेमें निरखने चलते हैं तो वहाँ परमाणु मिलता है जो कि पिंड रूप है, रूप, रस, गंध, स्पर्श भी रहता है। इसी तरह आत्मस्वरूपकमे अन्तरमें कुछ निरखने चलें तो वहाँ क्या मिलेगा? इन्द्रियोंको संयत करके सर्वपदार्थोंसे भिन्न और अहित जानकर उपयोगको दूर करके परमविश्रामके साथ निरखो कि आखिर इस मुझसे बात है क्या? जब तक निरखने की बुद्धि चलेगी तब तक कुछ न मिल पायगा। निरखनेका यत्न प्रथम यत्न है। निरखनेके यत्नमें आत्माका निरखना नहीं होता है। निरखनेका यत्न एक आत्माके दरबारके आंगन तक पहुँचा देना है। बादमें स्वयं ही स्वयंको स्वयंके द्वारा सहज ही बिना यत्न किए बल्कि क्रियाके यत्नोंके श्रमके अत्यन्त दूर करनेकी विधिसे यह आत्मा स्वयं निरखनेमें आता है। निरखनेका यत्न करना मन काम है और निरखना अनुभवना यह न इन्द्रियका काम है और न मनका काम है। यह आत्माका स्वरूप सहज होता है। इस आत्माको निरखें तो क्या मिलेगा? केवल ज्ञानप्रकाश। ज्ञानप्रकाशके अतिरिक्त इस आत्मद्रव्यमें और कुछ जानने, समझने ग्रहण करनेको नहीं मिलता।

स्वभाव, परिस्थिति और कर्तव्यभैया! कैसा ज्ञान द्वारा रचित यह आत्मतत्व है, आकाशकी तरह अमूर्त, ज्ञानघन यह एक चेतन पदार्थ जो समस्त पदार्थोंसे प्रधान व्यवस्थापक एक महान् शोभा वाला है। तो यह आत्मद्रव्य मोहभावसे मुक्त केवल शुद्ध भाव प्रकाश वाला है। लेकिन इन मिथ्यात्व अविरति आदि परिणामोंके कारण इसमें ऐसी मलिनता उत्पन्न होती है। सबसे महान् पुरुषार्थ यही है कि इस मैली पर्यायके होते हुए भी स्वभावके दृष्टिमें लें और स्वयं अपने आप जो केवल चैतन्यस्वरूप है उस रूपमें अनुभव करें यही आनन्दका उपाय है। बाकी तो सब झंझट है। यहाँ जितनी बुद्धिमानी करो यह उतना ही उलझ जाता है। इस लोकव्यवहारमें इन मायाचारी मिथ्यात्वियोंको देखकर इनमें कुछ अपना कायम करनेके लिए जितनी बुद्धिमानी चतुराईका व्यवहार बनावो उतना ही यह जीव विकल्पजालोंमें उलझ जाता है। इस उलझनेसे मुक्त होनेका उपाय सहजशुद्ध जो आत्मस्वरूप है, ज्ञान मात्र अर्थात् आत्माके सत्वके ही कारण आत्मामें जो कुछ भाव है उस भावकी दृष्टि होना है। स्वभावकी दृष्टि होनेपर ये सब उलझनें समाप्त हो जाती हैं।

दुनियोके बीच ज्ञानीका अपूर्व साहसभैया! क्या इतना साहस किया जा सकता है कि सारा जहान मिलकर भी कितनी ही निन्दा करे, तो हम यह जान सकें कि सारा जहान प्रत्येक जीव अपना परिणमन अपने आपमें ही करके समाप्त होता है। उस समस्त जहानसे बाहर इस मुझ उत्कृष्ट लोकके भीतर कुछ भी नहीं आता है। इतनी हिम्मत रहती है ज्ञानी पुरुषोंमें। क्या यह साहस किया जा सकता है कि समस्त जीव लोक भी मिलकर हमारी प्रशंसाके शब्द भी कहें तो हम वहां

यह जाने सकें कि यह समस्त लोक अपने विभाव से रागप्रेरणासे उत्पन्न हुए खुदकी वेदनाको शांत करनेके लिए खुदमें परिणमन कर रहे हैं, उनसे मुझ उत्कृष्ट लोकमें कुछ आना जाना नहीं होता है। ऐसी जीव लोक की परिणतिके ज्ञाता दृष्टा रह सकनेका साहस इस सम्यग्दृष्टि पुरुषमें होता है। सारा महत्व जाननका है। कितना ही धन वैभव संचित कर लो, कितना ही परिग्रह जोड़ लो पर उस परिग्रहीकी त्रुटि ज्ञानी पुरुषको ही मालूम हो सकती है कि देखो यह है तो केवल अपने रूप, केवल चैतन्यमात्र सबसे न्यारा, कुछ भी सम्बन्ध किसी परवस्तु नहीं है, किन्तु उपयोग द्वारा बहिर्मुख होकर कितना दूर भागा चला जा रहा है, यह त्रुटि ज्ञानी संत पुरुषको ही मालूम हो सकती है।

मिथ्यात्वादिकी बाधाकारिताये मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग बाधाके ही करने वाले हैं। इस जीवका स्वरूप अनाकुलताका है किसी परके द्वारा इसे बाधा आ ही नहीं सकती है। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव अपने आपमें विकल्प करके अपने आपके ही विभावोंसे आकुलता मचाता है। एक भी अणु यह सामर्थ्य नहीं रखता कि किसीकी आत्मा में मैं परिणति बना दूँ। किसी भी जीवमें यह सामर्थ्य नहीं है कि वह जीव किसी जीवमें किसी प्रकारके गुणोंकी परिणति कर दे। सुख-दुःख रागद्वेष कठिन कर्मोंका उदय निमित्त हो सकता है और उनका निमित्त पाकर यह जीव अपने आपमें रागद्वेष सुख-दुःख आदि उत्पन्न करनेका असर पैदा करता है। और इस असरके निमित्तभूत होनेके कारण यह उदय भी बाधाका करने वाला कहलाता है। किन्तु साक्षात् बाधा करने वाले आत्माके मिथ्यात्व, अविरति कषाय और योग भाव ही है। इन चारों पैरोंसे जिसके बलसे यह संसारमें चक्कर लगाया करता है उन वादोंका जो उदय दूर कर देता है उसे निःशंक पुरुष सम्यग्दृष्टि है ऐसा जानना चाहिए।

सम्यग्दृष्टिकी निःशंकताका विषयमिथ्यात्वका तो अभावरूप छिदना होता है और अविरति, कषाय और योग कहीं अभावरूप छिद जाता है तो उससे पहिले यह जर्जरित हो जाता है। मिथ्यात्वका अभाव हो तो यह सम्यग्दृष्टि होता है और अविरति आदिक जर्जरित हों और आगे बढ़कर इनका भी अभाव हो ऐसी उत्कृष्टता बढ़ती जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक रहता है। यह निःशंक किस विषयमें रहता है? शुद्ध आत्माकी भावनाके सम्बन्धमें। जैसे कोई साँप सामने से आ रहा हो और वह जगह छोड़कर हट जाय तो उस वृत्तिको सम्यक्त्वमें बाधा करने वाली शंका नहीं कहते हैं। कोई लोग तो यह मान लेते हैं कि मनुष्य पैदा होता है तो मौज मान लेनेके लिए होता है। जैसे बहुतोंने यह बना लिया है कि 'जिन आलू भटा नहिं खायो, वे काहेको जगमें आयो।' जिसको जो सुहाता है वह वही गीत बनाता या बताता है। वर्तमान सुखको छोड़कर किस सुखकी आशा करते हो? कितना ही बहकाया जाय, किन्तु अपने आत्मस्वरूपके सम्बन्धमें रंच भी शंका न हो, ऐसा निःशंक सम्यग्दृष्टि पुरुष होता है। सिगड़ी पास जल रही है और चद्दरकी खूंटमें आग लग गई और उस चद्दरको लपेटे ही रहे तो क्या आप उसे भला कहेंगे? नहीं। अथवा कोई किसी नदीमें से निकल रहा हो, चलते-चलते एक ओर जल अधिक गहरा मिले, और यह मालूम पड़ गया

कि गड्ढ़ा है तो हटे नहीं और वह गिर जाय तो यह कोई निःशंकताकी बात नहीं है। किन्तु शुद्ध आत्मस्वरूपके सम्बन्धमें वह सदैव निःशंकित रहता है।

ज्ञानीकी प्रक्रिया—भैया! वह ज्ञानी पुरुष स्व सम्वेदन ज्ञानके बलसे अथवा आत्मसम्वेदन रूप शस्त्रसे, खड्गसे इन चारों ही संसारवृक्षोंको मूलसे छेद देता है। उस निःशंकित आत्माको सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। चूँकि सम्यग्दृष्टि पुरुष टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायकभाव स्वरूपका उपयोगी होता है। अतः कर्मबंधकी शंका करने वाले मिथ्यादृष्टि आदिक भाव नहीं पाये जाते हैं। अतः वह निःशंकित रहता है। यह जीव क्या बन सकता है? जो खुदका स्वरूप है उस परमात्माके किसी भी परिणमन रूप बन सकता है, अपने स्वरूपके विरुद्ध कुछ भी परिणमन नहीं कर पाता है। तो क्या होगा? उसके ये अनन्त गुण हैं, उन अनन्त गुणोंका परिणमन ही होगा और कुछ नहीं हो सकता। यह पूर्ण निश्चित है। इस पर किसी भी परपदार्थसे आपत्ति नहीं आती है। हम ही अपने विभाव भयकारी बनाते हैं तो क्लेश पाते हैं। और यह भयकारी विभाव तब बनता है जब अपने ही कर्तापनको, कर्मफलको और करणको भूल जाते हैं।

आत्माकी अभिन्नकर्तृ कर्मकरणता—मैं ही कर्ता हूँ, किन्तु किसका कर्ता हूँ? जो मेरेमें परिणमन चलता हो उस परिणमनका कर्ता हूँ, अर्थात् मैं मेरा ही कर्ता हूँ और मेरे द्वारा जो कुछ कार्य किया जाता है उसका प्रयोजन भी मैं हूँ, उसका जो फल है वह है सुख-दुःख और आनन्द। इस तरहसे परिणमा हुआ मैं हूँ। अंगुली टेढ़ी हो गई तो यह क्या है? अंगुली ही है। सीधी हो गई तो यह क्या है? अंगुली ही है। किसी भी परिणतिमें रहे अंगुली-अंगुली ही है। ये सुख-दुःख रागद्वेष, ज्ञान, आनन्द ये सब आत्माके हैं, पर अन्तर इनमें इतना है कि कोई तो है अस्थिरभाव और कोई है स्थिरभाव। जो स्वभावरूप परिणमन हैं उनकी संतान वैसी ही वैसी चलती है। यह जीव चैतन्यस्वरूप है, टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायकभावमय है। जैसे टांकीसे उकेरी गई प्रतिमा अपने ही पाषाण स्वरूप है, किसी दूसरे पदार्थसे लगी हुई नहीं है। जैसे मिट्टी, कागज आदिकी प्रतिमा बनाई जाती है वह तो लगाव ही है। उस मूर्तिमें एकत्वस्वरूप नहीं है, मगर टांकीसे उकेरी हुई प्रतिमा पाषाणके ही स्वरूप है। ऐसे ही आत्माकी अवस्थायें आत्मरूप है।

देवस्थापनामें विवेक—जैन सिद्धान्तमें देवकी स्थापना कितने महत्वपूर्ण विधि-विधान से सोची गई है। यहाँ मिट्टी की मूर्तियाँ नहीं बनती हैं, कारण यह है कि जैसा शुद्ध आत्मा है, स्वयंके एकत्व स्वरूमें है इसी प्रकार इसको मूर्तिको भी आखिर बनाया तो इस ढंगसे बनाया कि जिस उपादानसे मूर्ति बनी उसका स्वरूप एकत्व स्वरूप है। लगाव वाली मूर्ति जैनसिद्धान्तमें निषिद्ध है। कागजकी बनाना, गोबरकी बनाया, मिट्टीकी बनाना यह सब निषिद्ध है। दूसरी बात यह है कि मिट्टी, गोबर कागजसे बनाई हुई मूर्तिमें विनय नहीं रह सकती है। उसका टूटना फूटना न देखना हुआ तो पानीमें सिराया जायगा। कुछ तो करना ही पड़ेगा। वह स्थिरतासे नहीं रह सकती। उस देवकी स्थापना अस्थिर तत्वमें हो और अगर वह टूटती-फूटती फिर या इस भयसे सही पानीमें

सिरवाये तो यह देवका अविनय है। प्रभुकी स्थापना पाषाण प्रतिबिम्ब में ही चिर-स्थायी रह सकती है।

पाषाणबिम्बसे रहस्यमय शिक्षायह प्रतिबिम्ब यह भी शिक्षा देता है कि जैसे हम किसी वस्तुके द्वारा बजाए हुए नहीं हैं किन्तु जो पहिले थे सो ही अब हैं। जो पाषाणका बड़ा शिलाखण्ड रखा हुआ था या उसके भीतर जिस जगह मैं था मानो प्रतिबिम्ब पुरुष बनकर कह रहा हो परसोनीफिकेसन अलंकारसे कि मैं उस बड़ी शिलामें जहाँ का था वहाँका अब भी हूँ, उस चीजको छोड़कर नहीं बनता हूँ, मुझे कारीगरने नहीं बनाया है। मैं जो अब व्यक्त हूँ, सो पहिलेसे बना बनाया हूँ। मैं पहिले अव्यक्त था। अब मैं लोककी निगाहमें व्यक्त हो गया हूँ। यहाँ कह रहा है पाषाणबिम्ब। कारीगरने मेरे स्वरूपको पहिचाना कि उस बड़े पाषाणखण्डमें यह विराजा है, मेरे इस स्वरूपको ढकने वाले जितने पाषाण थे, जितने अवयव थे उनको कारीगरने हटाया। और समस्त आवरण अवयव जब हट गए तब मैं सब लोगोंकी निगाहमें प्रकट दिखने लगा। हम तो उतने ही वहाँ भी थे यहाँ भी हैं। हम नये नहीं बने, चीजोंके लगावसे नहीं बने।

सावधानीके तीन कारणपाषाणबिम्ब कह रहा है हाँ यह बात अवश्य है कि मुझे पहिचानने वाला कारीगर बड़ा चतुर था। उसने पहिचाना और आवरकको ऐसी सावधानीसे हटाया कि मेरा आघात न हो जाय। पहिले तो बड़े-बड़े पाषाणोंको हटाया, उस समय भी हमारी भक्तिवश जितनी चाहिए उतनी सावधानी रखी। बड़ी हथौड़ी और बड़ी छेनीसे हटाया आवरणको। बड़ा आवरण हट चुकनेपर छोटी छेनी और छोटी हथौड़ीसे छोटे-छोटे आवरण भी दूर किये। उसमें भी हमारी भक्तिवश उसने बड़ी सावधानी बर्ती। अब जब मध्यम प्रकारके आवरण हट गए तब उसने अत्यन्त अधिक सावधानी बर्ती। बिल्कुल पतली छेनी और हथौड़ी लेकर नाम मात्रकी चोट देकर बड़ी सावधानीसे सूक्ष्म आवरणोंको हटाया। इतना काम कुशल कारीगरने किया था। उसने मुझे नहीं बनाया। मैं तो वही हूँ जो पहिले पाषाणमें अव्यक्त था। हे दर्शक! हे भक्त! तू भी अपनेको सम्हाल। तू भी वही है जो अनादिसे है औक्र तू जब परमात्मत्व पायगा तो कुछ नई बात न पायगा। जो है सोई होगा। विषयकषायोंके आवरणोंको तू हटा। तू तो स्वयं सिद्ध परिपूर्ण स्वरूप वाला है, आवरण दूर होनेके साथ ही तू व्यक्त हो जायगा ऐसा यह प्रतिबिम्ब उपदेश दे रहा है मानो।

प्रभुस्थापना पुरुषमें न किये जानेका कारणयह मूर्ति या स्थापना किसी अन्य पुरुषमें नहीं की जाती है कि बनादें महावीर स्वामी किसी लड़केको। वह रागी है, द्वेषी है अविवेकी है, कुछसे कुछ वचन बोलने वाला है। महावीर स्वामीका नाटक पूरा हो चुकने पर वह लड़का मूँगफलीकी गलियोंमें मूँगफली माँगता फिरे तो क्या वह प्रभुकी विनय है? नहीं। जैसे एक बार राष्ट्रपति देशका बना दिया जाता है तब उसका जितना जीवन शेष है तब तक राष्ट्रपतित्व मिटनेके बाद भी उसका आदर करते हैं। सरकार उसे बैठे बैठे पेंशन देती है। जिससे लोग यह न कह सकें कि ये भारतके राष्ट्रपति थे, और आज खेती करके भी पेट नहीं भर पाते हैं। तो हम किसीमें प्रभुकी स्थापना कर

दें और वह फिर दर-दर भीख माँगता फिरे तो क्या यह प्रभुकी विनय है? तो कितनी बुद्धिमानी से यह मूर्तिका विधान बना हुआ है। उस मूर्तिवत् निश्चल ज्ञान स्वभावरूपका परिचय है ज्ञानीको तो कर्मबँधकी शंका करने वाले मिथ्यात्व आदिक भाव नहीं होते हैं, अतः यह निःशंक है, इसके शंका, बँध नहीं है, शंका ही नहीं है अतः इसके निरन्तर निर्जरा ही चलती है।

उपदेशोंका प्रयोजनजैनसिद्धान्तमें जितने भी उपदेश होते हैं उन उपदेशोंका प्रयोजन स्वभावदृष्टि करानेका है। यह जीव स्वभावदृष्टिके बिना जगतमें अब तक मिथ्यात्व ग्रस्त रहकर अनेक संकट भोगता चला आया है। संसारके संकटोंको दूर करनेका उपाय है तो केवल एक स्वभावदृष्टि है। इसी कारण जितने भी उपदेश किसी भी अनुयोगमें हों प्रवामानुयोग करुणानुयोग, चरणानुयोग अथवा द्रव्यानुयोग और उनमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे कितने भी कथन हों, उन सबका प्रयोजन स्वभावदृष्टि निकालना चाहिए। जिस जीवको स्वभाव दृष्ट होता है वह निःशंक रहता है क्योंकि वह जानता है कि मेरा स्वरूप स्वतः सिद्ध है, इसमें परचतुष्टयका प्रवेश नहीं है। इसका कोई गुण इससे पृथक् नहीं हो सकता है। यह परिपूर्ण स्वरक्षित है। ऐसा बोध होनेके कारण वह निःशंक रहता है और इसही बोधके कारण उसके किसी भी प्रकारके भोग व वैभवकी इच्छा नहीं उत्पन्न होती है। आज उसी निःकांक्षित अंगका लक्षण कह रहे हैं।

जो हु ण करेरि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु।
सो णिककंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३० ॥

चूँकि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्णवत् ज्ञायकस्वभावका उपयोगी है, इसी कारण किसी भी कर्मफलमें और सर्व वस्तु धर्मोंमें कांक्षाको नहीं करता है। उस निष्कांक्ष सम्यग्दृष्टिके कांक्षाकृत बँध नहीं होता है।

इच्छाके विवरणका ज्ञापनइच्छा होना आत्माका स्वभाव नहीं है। जैसे कि अभी बताया गया था कि जैनसिद्धान्तके उपदेशोंका मूल प्रयोजन स्वभावदृष्टि करनेका है। जैसे कि पदार्थके स्वरूपके कथनमें जहाँ स्याद्वादका पुट न हो वह कथन प्रमाण नहीं होता, इसी प्रकार जिस कथनमें प्रयोजन स्वभाव दृष्टिका न हो या सुननेका प्रयोजन स्वभावदृष्टिका न हो तोवह अपने लिए उपदेश नहीं हुआ। पदार्थोंके स्वरूपका भी जितना वर्णन है वह वर्णन भी स्वभावदृष्टि करानेके लिए है, न कि जैसे कहावत है कि ठाढ़े बैठे बनियाका बेटा बैठा तराजूके बाट यहाँसे वहाँ रखे। खाली समय है तो बाटोंसे बाट तौलता है ओर अपना समय बिताता है। इसी तरह यहाँपर सर्वरचनाओंके परिज्ञान करने रहना, उस ओर बाह्य दृष्टि करना, लो यह है, यह ऐसा है, इस तरह जानते रहनेसे कार्य सिद्ध नहीं होता। समग्र उपदेशका प्रयोजन स्वभावदृष्टि करानेका है। जहाँ विभावका लक्षण किया है, स्वरूप वर्णन किया है वहाँ भी समस्त विवरणका प्रयोजन स्वभावदृष्टि करानेका है। जरा इच्छाके स्वरूपपर दृष्टि करो।

इच्छाके स्वरूपका विवरणइच्छाका परिणाम आत्मामें स्वरसतः नहीं होता है। यद्यपि है आत्माके चारित्र गुणकी विकारपरिणति। पर ऐसा नहीं है कि आत्मामें इच्छा या सभी विभाव भाव

आत्मामें स्वभावसे बंधे हुए हों और एकके बाद एक पर्याय बननेका इसमें स्वरसतः अधिकार हो। किन्तु कर्मोदयका निमित्त पाकर आत्मभूमिमें इच्छाका विकाररूप परिणमन होता है। ऐसा भी नहीं है कि जब आत्मामें विभावपरिणमन होता हो तब कर्मोदयको हाजिर होना पड़ता हो। जितने भी पदार्थ हैं वे सब अपने आपके स्वरूपमें रत हैं। एक-दूसरेके सत्के कारण अपनी परिणति किया करता हो, ऐसा कोई पदार्थ नहीं हे, परन अपने विकारपरिणमनमें एक दूसरेका निमित्त होता है। अब इस वर्णनमें भी हम स्वभावदृष्टिका प्रयोजन कैसे निकाल सकते हैं? देख लीजिए। यह इच्छा मेरे स्वभावसे नहीं उत्पन्न होती, कर्मोदयका निमित्त पाकर यह इच्छारूप परिणमन होता है, अतः इच्छा मेरे अन्तरका परिणाम नहीं है। इस विभावसे इस दृष्टिकी उपेक्षा होती है और स्वभावदृष्टिमें इसे प्रेरणा मिलती है।

अध्यात्ममें जानने योग्य नयोंका विवरणअध्यात्ममें जानने योग्य नय चार हैं परमशुद्ध निश्चयनय, शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय और व्यवहारनय। इन चारों नयों का प्रयोजन स्वभावदृष्टि करानेका है। परम शुद्ध निश्चयनयमें साक्षात् प्रयोजन पड़ा हुआ है। परम शुद्ध निश्चयनयका विषय है वस्तुके अखण्डस्वभावका देखना, वस्तुके स्वभावका भेद न करके स्वभावमात्र वस्तु निरखना यह परम शुद्ध निश्चयनयका कार्य है। परमशुद्ध निश्चयनयने सीधा स्वभाव दृष्टि कराया। शुद्ध निश्चयका विषय है जो पर्यायतः शुद्ध है, जैसा शुद्ध प्रभु है, परमात्मा है, उस शुद्ध प्रभुको शुद्ध पर्याय परिणत निरखना और उस शुद्ध पर्यायका विकास उन्हींके स्वभावसे होता है, इस तरहकी युक्ति सहित निरखना। इस शुद्ध निश्चयनयके निरखनेमें चूँकि वह पर्याय स्वभावके अनुरूप है अतः उस पर्यायके स्त्रोतभूत स्वभावकी दृष्टि कर लेना सुगम कार्य होता है।

अशुद्धनिश्चयनयसे स्वभाव देखनेकी पद्धतितीसरा नय है अशुद्धनिश्चयनय। अशुद्ध निश्चयनयका यहाँ विषय है अशुद्ध पर्याय परिणत आत्मद्रव्यको निरखना और इस पद्धतिसे निरखनाकि अशुद्ध परिणति किसी अन्य द्रव्यसे नहीं होती है, किन्तु इस निजसेही होती है जिसमें यह अशुद्ध परिणति है। ऐसा देखना शुद्ध निश्चयनयका काम है। ये दृष्टियाँ हैं। सभी दृष्टियाँ अपना-अपना कार्य करनेमें समर्थ हैं, दूसरोंके कार्यकी परवह नहीं करतीं। समन्वय प्रमाण करता है। अब यह देखिए कि अशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे वस्तुको निरखते हैं। इससे स्वभावदृष्टिका प्रयोजन सिद्ध होता है या नहीं? अशुद्ध निश्चयनमें ये निरखे गए जीव हैं इनमें यह राग परिणमन है। यह रागपरिणमन इस जीवके चारित्रगुणके विकार रूप है और यह रागादि परिणति इस चारित्र गुणकी विकृत परिणतिसे हुई। यह अशुद्ध निश्चयनयका विषय है। निश्चयनय केवल एक वस्तुको देखा करता है दोपर दृष्टि नहीं देता है और न वहाँ दोका सम्बन्ध देखा जाता है। इस अशुद्ध निश्चयकी दृष्टिमें जहाँ यह देखा गया कि ये राग क्रोधादिक पर्यायें आत्माके चारित्र शक्तिकी परिणतिसे हुईं तो ऐसा निरखनेमें चारित्रशक्ति मुख्य हो जाती है और होने वाली पर्याय गौण हो जाती है। जब ऐसा निरखते हुएमें यथाशीघ्र पर्यायसे हटकर पर्यायके स्रोतभूत मूल शक्तिपर उपयोग पहुँचता है और उस आधारभूत शक्तिपर उपयोग पहुँचते ही स्वभावदृष्टि बन जाती है।

व्यवहारनयसे स्वभाव देखा जा सकनेकी पद्धतिचौथा नय है व्यवहारनय। व्यवहारनयमें भी यह देखना है कि हमें स्वभावदृष्टिसे उत्साह कैसे जगता है? व्यवहारनय दो या अनेक पदार्थोंका सम्बन्ध बतलाता है। चूँकि कोई भी विकारपणिमन किसी परका निमित्त पाये बिना नहीं हो सकता है, अतः यह निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध वास्तविक है, परन्तु व्यवहारनयसे कुछ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धको देखते रहने तकका ही अपना प्रयोजन बनाया तो हमने उस उपदेशसे लाभ न उठाया। समग्र उपदेशका प्रयोजन स्वभावदृष्टि करानेका है, क्योंकि स्वभावदृष्टिके बिना ही ये जगतके जीव अनादि कालसे अब तक इस जगतमें रुलते चले आए हैं। जहाँ यह देखा कि इस जीवमें ये विषय कषायके परिणाम स्वरसतः नहीं हुए हैं उर उपाधिका निमित्त पाकर हुए हैं, तब आत्माका जैसा सहज स्वभाव है, उसको सुरक्षित तक लिया जाता है। यह मैं आत्मा शुद्ध ज्ञानस्वभावमात्र हूँ, यह जो रागपरिणमन हुआ है यह कर्मोदयका निमित्त पाकर हुआ है मेरे स्वभावसे नहीं हुआ है। ऐसा व्यवहारनयसे जानने पर स्वभावदृष्टिके लिए हमें उत्सगजाहता है।

ज्ञानीकी लीलामें स्वभावदर्शनभैया! जैनसिद्धान्तमें कितनी ही जगह निश्चयनय के उपायने स्वभावदृष्टिमें पहुँचाया है और कितनी ही जगह व्यवहारनयका वर्णन करके स्वभावदृष्टि पर पहुँचाया हे, जैसे किसी खेलमें निपुण बालक जो बहुत अधिक निपुण है उस खेलको खड़े, बैठे, डोलते हुए टेढ़े-मेढ़े किसी भी प्रकारसे अपने खेलको खेलता है। इसी प्रकार मर्मरूपसे स्वभावका परिचय पाने वाला ज्ञानी पुरुष किन्हीं भी नयके उपायोंसे या किन्हीं भी वर्णनोंसे, किन्हीं भी कथनोंसे अपनी स्वभावदृष्टिको कर लेनेसे उसके विलासको उत्पन्न कर लेता है।

निःकांक्षता पानेकी रीतियहाँ निःकांक्षित अंगका वर्णन चल रहा है। सम्यग्दृष्टि जीव किसी भी कर्मफलमें और वस्तुधर्ममें कांक्षाको उत्पन्न नहीं करता है। इस जीवपर सबसे महान् संकट है तो विकल्पोंका संकट है। बाह्य पदार्थोंसे संकट नहीं आते हैं। धन नहीं है तो संकट है ऐसा नहीं है किन्तु जीवमें विकल्प मच रहा है यह संकट हैं यह विकल्प कैसे छूटे? इसके टूटनेकी रीति निर्विकल्प निज स्वभावके दर्शन करनेमें है। अब निर्विकल्प निज स्वभावके दर्शन कैसे हों, इसका उपाय दो पद्धतियोंमें बताया है। एक तो यह बतलाते हैं कि हे आत्मन् तेरा जो कुछ है वह तुझमें है, तेरा जो कुछ बनता है तुझसे बनता है, तेरा परमें कुछ नहीं होता है। तुझमें परका अभाव है परमें तुझका अभाव है, ऐसे एकत्वकी मुख्यतासे आत्माको निज स्वभावके दर्शनमें पहुँचाया जाता है, विभावसे हटनेकी दूसरी पद्धति यह है कि जो ये विकल्प उत्पन्न हो रहे हैं ये विकल्प तेरे निजकी चीज नहीं हैं। ये कर्मोदयका निमित्त पाकर हुए हैं। तेरा तो टंकोत्कीर्णवत् स्वरसे जैसा सहज स्वभावरूप है वैसा ही तेरा स्वरूप है। पर ये जो विकार आए हैं ये कर्मोदय विपाक प्रभव भाव हैं, ये मेरे स्वभाव नहीं है। ऐसे व्यवहारनयके उपायसे स्वभावदृष्टि तक पहुँचनेकी पद्धति भी यह सम्यग्दृष्टि करता है। जब तक निर्विकल्प शुद्ध ज्ञानमात्र आत्मस्वभावकी दृष्टि नहीं जगती है तब तक वह आत्मीय आनन्द नहीं प्रकट होता, जिस आनन्दमें सामर्थ्य है कि भव-भवके संचित कर्म

भी नष्ट हो जाते हैं। यह सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध आत्माकी भावना कर रहा है। और उसी भावनाके परिणाममें परम आनन्दकी परिणतिमें तृप्त हो रहा है।

ज्ञानीके पराधीन व विनाशीक सुखमें अनास्थाजो ज्ञानी अनुपम स्वाधीन आनन्द को प्राप्त कर चुका हो वह पराधीन विनाशीक सुखकी वाञ्छा कैसे करे? ये जगतके सुख पराधीन हैं। प्रथम तो इस सुखका मुख्य कारण कर्मोदय है। कर्मोदय अनुकूल हो तो यह सुख प्राप्त हो। फिर बादमें तो सुखके लिए आश्रयभूत वे अनेक पदार्थ जुटाने चाहिएँ। सो कर्मोके उदयको जब नोकर्म नहीं मिलता तो वे कर्म भी संक्रान्त हो जाते हैं। यह सुख पराधीन है। पराधीन ही सही लेकिन जब मिला तब तो अच्छा है ना? ऐसा न सोचना चाहिए, क्योंकि जो सुख उत्पन्न होकर नष्ट हो जाने वाला हो, जो विनाशीक हो उसके पाने का क्या आनन्द है? सम्यग्दृष्टि जानता है कि संसारका सुख मिलता है तो वह नियमसे यथाशीघ्र नष्ट हो जाया करता है। अतः सम्यग्दृष्टिको जगतके सुखका आदर नहीं होता है।

इन्द्रियज सुखमें दुःखबहुलताकोई कहे कि पराधीन सही और विनाशीक सही मगर जिस क्षणको सुख मिल जायेगा उस क्षण तो मौज यह जीव पा ही लेगा। सो इतनी भी बात नहीं है। कोई भी जगतका सुख ऐसा नहीं है जिसके भोगनेके बीच-बीचमें दुःख न आया करते हों। कोई भी सुख ऐसा नहीं है। धनके कमानेका सुख है तो उसके अर्जनके बीच-बीचमें कितने ही संकट आया करते हैं। कोई समारोह करनेका सुख है, पुत्रका विवाह है, बारात बड़ी ठाट-बाटसे जा रही है तो क्या उस पुत्र पिता या जो अधिकारी माना जाय, जो अपनेको सुखी समझता हो, या वह दूल्हा ही स्वयं क्या एक दो घंटे या आधा घंटे लगातार सुखसे रह सकता है? नहीं। बीच-बीचमें उसे कितने ही दुःख भोगने पड़ते हैं। अधिकारी तो अमुकको मनाए, अमुकको मनाए, कोई नाराज हो गया तो उसके हाथ जोड़े। भैया! आपको जाना ही पड़ेगा। आपके जाये बिना काम ठीक न होगा। कितनी-कितनी बातें करते हैं? सुखमें कौन रह पाता है? सारे लौकिक सुख-दुःखसे भरे हुए हैं। भोजन भी कोई करता हो तो प्रथम तो जो तृष्णा लगी है, आसक्ति लगी है, उसके मारे सब आनन्द किरकिरा हो जाता है। दुःखसे ही कौर उठता है। क्षोभसे भरा हुआ होकर वह भोजन कर रहा है। कौनसा सुख ऐसा है जो निरन्तर शांतिको बहाता हुआ उत्पन्न होता है? ये समस्त सुख-दुःखोंसे भरे हुए हैं और फिर इतना ही इनमें अनर्थ नहीं है। यह भी अनर्थ है कि पापबंध करा देता है। आगामी कालके लिए भी सुखका साधन जुटाकर यह सुख जाया करता है। ऐसे सुखमें सम्यग्दृष्टिको आदर नहीं होता है।

ज्ञानीके पुण्येच्छाका अभावसम्यग्दृष्टिने शुद्ध ज्ञानमात्र अपने आपको तकनेके उपायसे एक अनुपम आनन्दका अनुभव किया है जिस आनन्दमें तृप्त होकर यह पंचेन्द्रियके विषय सुखोंमें वाञ्छा नहीं करता है। वह इन्हें आफत जानता है। इनके प्रसंगमें विकल्प करना पड़ता है। यह विकल्प होना कलंक है, क्लेश है। उन विकल्पोंमें इस सुदृष्टिकी भावना नहीं रहती है। इसी प्रकार

विषयसुखके कारणभूत नाना प्रकारके पुण्यरूप धर्मोंमें इसकी चाह नहीं रहती है। यद्यपि शुद्ध दृष्टिके कारण जब तक राग शेष है तब तक इसके पुण्यरूप कार्य होता है, पर अन्तरमें से चाह कर कि इस पुण्यसे मुझे मुक्ति मिलेगी अथवा मुझे पुण्य बँध जाय इसके लिए मैं पूजन करूँ ऐसी आशा रखकर वह पुण्यरूप कार्यको नहीं करता है। कहते भी हैं कि पुण्यकी आशा रखनेसे पुण्यबँध नहीं होता है, किन्तु विशुद्धिके शुद्ध प्रतापसे इस जीवके पुण्य कार्य होता है, पर उन पुण्य कार्योंमें यह आशा नहीं रखता है कि मुझे पुण्य बँधे अथवा इस पुण्यके प्रतापसे मेरी आगामी स्थिति उत्तम हो ऐसी वाञ्छा ज्ञानी पुरुष नहीं करता है।

ज्ञानीका आश्रयज्ञानी सब प्रकारके वस्तुधर्मोंमें अथव कुधर्मोंमें वाञ्छा उत्पन्न नहीं करता। मिथ्यात्वरूप कोई कुधर्म चमत्कार सम्पन्न होनेसे कायर जनोंको सत्यपथकी दृष्टिसे विचलित कर सकनेके कारण है ऐसे कुधर्ममें उसकी वाञ्छा उत्पन्न नहीं होती। मुझमें लौकिक चमत्कार न सही मुझे लौकिक चमत्कारकी आवश्यकता नहीं है। मुझे तो एक स्वभावदृष्टि चाहिए जिसके प्रतापसे संसारके समस्त क्लेशोंसे मुक्त हो सकूँ। ज्ञानी पुरुषको भोगोंमें अथवा भोगोंके कारणभूत पुण्यबँधमें, उन चमत्कारोंसे भरे हुए धर्मोंमें वाञ्छा नहीं होती है। वह ही आत्मा सम्यग्दृष्टि है जो संसारके सुखोंकी वाञ्छासे रहित है। जिसके विषय सुखोंकी वाञ्छा नहीं है, इच्छा नहीं है उसके विषय सुखोंसे इच्छाकृत बँध नहीं होता है। बल्कि विषय सुखोंकी इच्छा दूर होनेके कारण स्वयं सम्वररूप भाव होनेसे पूर्व संचित कर्मोंकी निर्जरा ही होती है। इस तरह सम्यग्दृष्टिके निःकांक्षित अंगमें वाञ्छारहित स्वरूप बताया गया है।

धर्मधारणके प्रयोजनमें भोगेच्छाके स्थानका अभावछहढालामें निःकांक्षित अङ्गके स्वरूपमें लिखा है 'चारि वृष भव सुख वाञ्छा भावे।' धर्मधारण करके भव सुखकी इच्छा न करना सो निःकांक्षित अंग है। कहीं ऐसा नहीं है कि सम्यग्दृष्टि जीवके किसी प्रकारकी इच्छा ही न उत्पन्न होती हो, व्यक्तरूप इच्छा छठे गुणस्थान तक चलती है, पर धर्मधारण करके उन धर्मोंके प्रयोजनमें किसी प्रकारके संसारी सुखकी इच्छा करना यह ज्ञानी पुरुषके नहीं होता है। धर्मकार्य करता है, पुण्यकार्य करता है। स्वभावदृष्टिकी महिमा जानकर उस स्वभावदृष्टिकी महिमा जानकर उस स्वभावका जहाँ पूर्ण विकास है ऐसे परमात्मप्रभुकी भक्ति में गद्गद होकर वंदना और स्तुतिमें, स्तवनमें प्रायश्चितरूप यह अपनी आत्मनिन्दा कर लेता है और प्रभुके शुद्ध स्वरूपको देखकर बड़ा आल्हाद उत्पन्न करता है। ऐसी वंदना, स्तुतिके प्रसंगमें यह जीव रहता तो है मगर उस कार्यसे मेरेमें पुण्य बँधे अथवा मुझे ऐसी-ऐसी स्थिति मिले इसकी रंच इच्छा नहीं होती है।

ज्ञानी गृहस्थके मूलमें निरीहतासम्यग्दृष्टि जीव भी जो गृहस्थ है तो दूकान क्यों जाता है? क्या थोड़ी बहुत मनमें यह बात न आती होगी कि काम करना है? कुछ आय होना चाहिए। वह निरुद्देश्य ही जाता होगा क्या? इच्छा होती है वह विकार है, कमजोरी है। पर धर्मधारण करके उसने अपने जीवनका उद्देश्य ही इस चीजको बनाया ऐसी ज्ञानी के प्रवृत्ति नहीं है। मेरे जीनेका

उद्देश्य यह है कि खूब धन जोड़ लें, ऐसा ज्ञानीके भाव नहीं रहता है। अथवा पूजा-पाठ धर्मध्यान गुरु सेवा आदिक रखे यह प्रयोजन रखे कि मेरे सब प्रकारका आराम और कुशलताएँ रहें ऐसा ज्ञानीके परिणाम नहीं होता है। यह ज्ञानी पुरुष निकांक्षित होता है। इसके कांक्षाकृत बँध इसी कारण नहीं है कि वह अन्तरमें इसकी वाञ्छा नहीं रखता, किन्तु परिहरण स्वभाव होनेसे, उन सबसे हटा हुआ परिणमन बनाने वाला होनेसे उसके पूर्व संचित कर्मोंकी निर्जरा होती है। यों निःकांक्षित अंगके प्रकरणमें सम्यग्दृष्टिको निरीहताकी मूर्ति, इच्छारहित मूर्ति जानो, इस तरहका स्वरूप दिखाया है।

ज्ञानीके वैषयिक सुखसे उपेक्षाका कारणजो जीव कांक्षा आदि भावरहित निज शुद्ध आत्माका सम्वेदन करता है, ज्ञानमात्र स्वरूपमें अपने आपको निहार कर उत्कृष्ट देखता है, उसीके साथ लीला करता है, उससे जो आनन्द प्राप्त होता है उस आनन्दमें स्थित हुए ज्ञानी पुरुषके वैषयिक सुखोंसे प्रीति नहीं होती है। इस ज्ञानीने ऐसा कौनसा बल पाया जिस बलके कारण यह निरन्तर स्वाधीन आनन्दरसमें तृप्त रहा करता है? वह बल है शुद्ध ज्ञानस्वभावके दर्शनका। जगतमें जितने भी समागम हैं उन समागामोंसे आत्मामें न कोई सुधार होता है और न कोई बिगाड़ होता है। कम बिगाड़ होनेका नाम सुधार है। लेकिन कहा जाता है कि जैसे १०४ डिग्री बुखार हो और कभी दो डिग्री बुखार कम हो जाय तो वह बुखारवाला अपनेमें सुखका अनुभव करता है। कोई दूसरा पूछे कि अब कैसी हालत है तो वह कहता है कि हाँ अब अच्छी हालत है। वस्तुतः बुखार तो अब भी है, लेकिन बुखारकी जो कमी है उसमें सुखका अनुभव करता है। इसी प्रकार जगतमें बाह्य पदार्थोंसे कहीं सुख नहीं है, किन्तु जब कभी दुःखोंमें कमी होती है तो उसे सुख कहा करते हैं। वस्तुतः सुख नहीं है। सुख तो आत्माके शुद्ध ज्ञायकस्वरूपके अनुभवमें ही है।

कालस्थिति व कर्मस्थितिकी ओरसे सम्यक्त्वकी पात्रताका समयअब बाह्यपरिस्थितियोंसे इस ज्ञानीके सम्यक्त्वका निर्णय कीजिये तो प्रथम प्रश्न यह होता है कि सम्यक्त्व पात्र यह जीव किस समय होता है कालकी अपेक्षासे? तो बताया गया कि जब अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन संसार रह जाता है तब जीवमें सम्यक्त्व होनेकी योग्यता होती है। फिर कर्मोंकी स्थितिके प्रश्नमें पूछा जाय कि कितने कर्मोंकी स्थिति बँधनेपर जीवके सम्यक्त्वकी योग्यता होती है? तो बताया है कि अतः:कोड़ाकोड़ी सागर मात्र हो, स्थितिबँध हो तब जीवके सम्यक्त्वकी योग्यता होती है। अंतः कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थितिका कभी अभव्यके भी बँध रहता है और प्रायोग्य बँधमें कम कम होता हुआ हजारों सागर कम अंतः कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थितिमें बँध होता है। फिर भी वह सम्यक्त्वका पात्र नहीं है। मंद कषायमें और वस्तुस्वरूपके सम्बन्धमें कुछ चिंतनमें इतनी सामर्थ्य है कि स्थितिबँध कम हो जाय, स्थिति सत्व भी कम हो जाय तिस पर भी यदि शुद्धस्वभावकी दृष्टि नहीं जगती है तब आत्मामें सम्यक्त्व नहीं होता।

सम्पक्त्वकी महिमासम्यक्त्वकी महिमाके सम्बन्धमें समंतभद्रस्वामी ने कहा है कि सम्यक्त्व समान तीन लोक और तीन कालमें श्रेयस्कर कुछ भी वस्तु नहीं है और मिथ्यात्व के समान तीन

लोक तीन कालमें श्रेयस्कर वस्तु और कुछ नहीं है। लेना न देना, पदार्थ सब अपने-अपने सत्में है, लेकिन अज्ञानी जीव प्रत्येक पदार्थके सम्बन्धमें ऐसे आत्मीय विकल्प करता है कि वह सर्व जगतको अपना बनानेमें उत्सुक रहता है। ज्ञानी जीवको समस्त परवस्तुपर नजर आती है इसलिए उसके वैराग्य निरन्तर रहता है। ज्ञानीके यह प्रतीति है कि मेरा ज्ञानस्वरूप समस्त परपदार्थोंसे और परभावोंसे हटा रहनेका स्वभाव रखता है। यह स्वभाव कभी भी किसी विभाव या परपदार्थमें मिल नहीं सकता। ऐसे अछूता निर्लेप अबँध आत्मस्वभावको निरखने वाला ज्ञानी पुरुष विभावमें व परपदार्थमें मुग्ध नहीं हो सकता। उसे तो कल्याणमय केवल अपना स्वरूप ही दृष्ट होता है।

पञ्चपरमेष्ठीकी उपासनामें ज्ञानीका मूल उद्देश्यभैया! पंचपरमेष्ठीकी आराधनामें यह ज्ञानी जीव आता है वहाँ भी इसका प्रयोजन आत्मस्वभावका दर्शन है। वह परमेष्ठियों को ही आत्मविकासके रूपमें समझता है। इन परमेष्ठियोंमें सर्व प्रथम साधु परमेष्ठी होती है। सर्व आरमभ परिग्रहके त्यागसे पहिले आत्मामें परमेष्ठित्व नहीं उप्पन्न होता है। ये ज्ञानी गृहस्थ जो भी साधु हैं वे पहिले घरमें तो थे ही। पैदा तो जंगलमें नहीं हुए। भले ही कोई बचपनसे ही ८ वर्षकी ही उम्रसे साधु बना हो पर था तो वह घरमें ही। कोई साधु ऐसे भी हुए हैं कि जबसे पैदा हुए तबसे ही उन्होंने कपड़ा नहीं पहिना। हुआ क्या कि बचपन में ही उसके माता-पिता ने किसी मुनिके साथ पढ़नेको रख दिया तो मुनिके संघमें भी नग्न रहते हुए ही बच्चेकी शक्लमें पढ़ता रहा और पढ़ते ही पढ़ते छोटी उम्रमें, मानों ८ वर्ष की उम्रमें ही उसे बोध होता है, सम्यक्त्व जगता है और संयम धारण कर लेता है तो उसने तो कपड़ा कभी भी नहीं पहिना। ऐसे भी साधु हुए हैं पर उत्पत्ति और सारा पालन-पोषण तो प्रायः मनुष्योंका घरमें ही होता है।

साधुताका प्रारम्भगृहस्थ ज्ञानी पुरुष सम्यग्ज्ञानके जगनेसे जब विरक्त होता है तब आरम्भ परिग्रहका परित्याग करके साधु ब्रत ग्रहण करता है। साधुका स्वरूप ऐसा है कि जो आत्माको निरन्तर साधता रहे वह साधु है। साधुकी वृत्ति, प्रवृत्ति मात्र आत्महितके लिए होती है। वह किन्हीं भी बाह्य परिकरोंसे प्रसन्न नहीं रहता। वह किन्हीं भी शिष्य आदिककी सेवासे अथवा भक्त श्रावक जनोंसे अपनेमें गौरव नहीं अनुभव करता। साधु तो निरन्तर आत्मत्वके दर्शन किया करता है। ऐसे आत्मतत्वके साधक साधु पुरुष जब अनेक साधुवों द्वारा प्रमाणित और हितकारी माना जाता है तब किसी आचार्यके द्वारा दिए गए पदसे या समस्त साधुवों द्वारा चुने गए कि विधिसे कोई आचार्य होता है। आचार्य परमेष्ठी भी इतने विरक्त होते हैं कि उनके द्वारा लोकमें कल्याण भी हो जाता है और अपने स्वभाव की दृष्टिसे चिगते नहीं।

बहिर्मुखी वृत्तिमें साधुताका अभावयदि कोई साधु लोककल्याणमें ही लग जाय, शिष्य आदिकके संग्रहमें ही लग जाय, बाहरी व्यवस्थामें ही लग जाय और अपने हितकी कोई वृत्ति न करे तब वहाँ आचार्यपरमेष्ठित्व तो दूर रहो सम्यक्त्वका भी संशय है। साधु उसे ही कहते हैं जो ज्ञायकस्वरूप निजआत्मतत्वकी साधनामें निरन्तर रत रहता हो। जिसे केवल एक ज्ञानमात्र आत्मस्वरूप

ही लक्ष्यमें रहता है उसे साधु कहते हैं। कोई राग मोहमें ग्रस्त हो और गृहस्थ भी इसी प्रकार ग्रस्त है, फिर उनमें परमेष्ठिता कहाँ आयी, पूज्यता कहाँ आयी?

असावधानीका फल दुर्निवार विपत्तियाँज्ञानी गृहस्थ चूँकि यह जानता है कि रागद्वेष मोह ही विपत्ति है, संकट है। और आजके समयमें चूँकि हम मनुष्य हैं इसलिए संकटों का कुछ निवारण भी कर लेते हैं, पर अन्य-अन्य गतियोंके संकट तो देखो दुर्निवार संकट हैं। कीड़े मकोड़े, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी इन अनेक जीवोंके संकट तो निहारो, ऐसे घोर संकट इस संसारमें हैं। ये संकट बढ़ते हैं रागद्वेष मोहके कारण। भले ही वर्तमान समयमें रागद्वेष मोह रुच रहा हो, क्योंकि पर्यायबुद्धि है, घरवालोंके मुखसे प्रशंसाकी बात सुननेमें आ रही हो, विनयशील और आज्ञाकारी बन रहे हों, इनके शरीरकी सुख सातामें लग रहे हों, ये सब भले मालूम होते हैं पर अन्तरमें कुछ रुच जानेका जो परिणाम बन रहा है, रागपरिणति हो रही है इससे ऐसे कर्मोंका बँध हो रहा है जिसके फलमें इसके संकट दुर्निवार हो जायेंगे।

तीव्र मोहका फलभैया! एक किसी समयके तीव्र मोहके फलमें ७० कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थितिके कर्म बँध जाते हैं, दर्शन मोहनीय कर्म बँध जाते हैं; अर्थात् किसी समय में बँधे हुए कर्म ७० कोड़ाकोड़ी सागर तक अपना पिंड नहीं छोड़ते। सागर कितना कहलाता है उसको हम कल्पनासे न जान सकेंगे। न तो वहाँ तक गिनती की पहुँच है, क्योंकि वह गिनतीसे परे है, असंख्यात काल कहलाता है। जिसकी गिनती नहीं वह अनन्तकाल कहलाता है। अनन्तका अर्थ है जिसका कभी अंत न हो अथवा अवधि ज्ञानी जीवके अवधिज्ञान से दूर हो। सर्वोत्कृष्ट अवधि ज्ञान सर्वावधि ज्ञान भी जितनी संख्याको नहीं जान सकता उसको भी अनन्त कहते हैं।

सागरका प्रमाणतो अब सागरको कल्पनाके प्रमाणसे कूतिये। मानलो, २ हजार कोसका लम्बा चौड़ा गड्ढ़ा है और उसमें उत्तम भोगभूमि ७ दिनके जाये हुए मेढ़ाके बच्चेके बाल कैंचीसे उतने छोटे टुकड़े करके जिनका दूसरा हिस्सा न हो ठसाठस भर दिये जायें। ऐसा न तो करना है और न कोई कर सकेगा, पर जो संख्याके हदसे बाहरकी बात है उसको बतानेका उपाय केवल कल्पना हो सकती है। यह बात सर्वज्ञदेवकी ज्ञानपरम्परासे चली आयी हुई है, यह मनमानी कल्पना नहीं है। उस खूब ठसाठस धसे और भरे हुए गड्ढ़ेमेंसे एक बाल १०० वर्षमें निकाला जाय, वे समस्त बालके टुकड़े जितने वर्षोंमें निकल सकेंगे उतने वर्षोंका नाम है व्यवहारपल्य। और व्यवहारपल्यसे असंख्यात गुणा होता है उद्धारपल्यका। और उद्धारपल्यसे असंख्यात गुण होता है अद्धापल्य। एक करोड़ अद्धापल्यमें एक करोड़ अद्धापल्यका गुणा किया जाय तो उसे कहते हैं एक कोड़ाकोड़ी अद्धापल्य। ऐसे १० कोड़ाकोड़ी अद्धापल्यका एक सागर होता है। एक करोड़ सागरमें एक करोड़सागरका गुणा किया जाय तो कहलाता है एक कोड़ाकोड़ी सागर। ऐसे ऐसे ७० कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थिति एक समयकी खोटी भावनामें बँध जाती है। इस कारण जीवको सदा सावधान बना रहना चाहिए।

शुभ उपयोगभैया! अशुभ परिणामोंसे बचनेके लिए व शुद्ध उपयोगकी पात्रताके लिये अपनी प्रवृत्ति किसी न किसी धर्मकार्यमें, पूजामें, सामायिकमें, स्वाध्यायमें, ब्रत उपवासमें, संयमकी स्थितिमें, सत्संगमें व्यतीत करना चाहिए। इस पुण्यकर्मके समय इतना तो सुनिश्चित है कि विषय कषायके अशुभ भाव नहीं होते हैं जिन अशुभ भावोंके कारण तीव्र अनुराग बढ़ता है। पुण्यकार्यमें लगे हुए भी दृष्टि अपने आत्मस्वरूपकी रखना चाहिए। हम परमेष्ठियोंको क्यों पूजते हैं? हम वहाँ शुद्ध स्वभावका विकास देख रहे हैं। साधु, आचार्य और उपाध्याय ये तीनों आत्माके शुद्ध विकासके यत्नमें लगे हैं। आजकल उपाध्यायोंका मिलना बड़ा कठिन है। कहीं न सुना होगा कि फलाने मुनि उपाध्याय हैं। चाहे आचार्य जल्दी बन जायं पर उपाध्यायका बनना बड़ा कठिन हो रहा है, क्योंकि उपाध्याय बननेका मूल तो ज्ञान है। ज्ञान बिना उपाध्याय पद नहीं मिलता। केवल बातोंके कहनेसे ही उपाध्यायपद हो नहीं पाता।

परमात्मत्वये तीनों प्रकारके साधु जब आत्मस्वभावमें रत रहते हैं तो इनमेंसे किसीके भी, आजकल तो नहीं हो सकता, किन्तु पदके स्वरूपकी बात कह रहे हैं कि जब स्वरूपाचरणचारित्रमें उत्कृष्ट प्रवेश हो जाय, जहाँ ध्यान, ध्याता, ध्ययेका विकल्प न हो, केवल शुद्ध ज्ञानमात्र, जो उदार है, घीर है, गम्भीर है ऐसे ज्ञानस्वरूपका ही उपयोग अभेद वृत्तिसे रह जाय तो इस उत्कृष्ट अभेद आत्मस्वभावके ध्यानके प्रसादसे चार धातियाँ कर्मों का क्षय हो जाता है। दर्शनमोहनीयका क्षय पहिले हो चुका था। चारित्र मोहनीयका क्षय क्रम-क्रमसे होता है और शेष तीन कर्मोंका क्षय एक साथ होता है। घातिया कर्मोंका क्षय होनेके बाद वह अरहंत प्रभु हो जाता है।

वीतरागताका प्रतापउनमें से जिन आत्मावोंने पूर्व कालमें संसारके जीवोंपर तीव्र दया बुद्धिकी और यह भावना की थी कि देखो ये संसारके प्राणी स्वयं तो ज्ञानानन्द स्वरूप वाले हैं, इनका स्वयं प्रभुताका स्वरूप है किन्तु एक अन्तरमें दृष्टि भर नहीं दी जा रही है कि बाह्य पदार्थोंकी ओर इतनी वेगपूर्वक दृष्टि दौड़ गई है कि व्याकुल रहता है। इसे यह अन्तरदृष्टि प्राप्त हुई है, ऐसा परमकरुणाका परिणाम जिनके हुआ था, और तीर्थंकर प्रकृतिका बँध किया था उन अरहंत देवोंका समवशरण बनता है, बड़े इन्द्रदेव सब दास होकर, सेवक बनकर धर्मप्रभावना करते हैं। सो अरहंत परमेष्ठीका स्वरूप, समवशरणका स्वरूप जब आप ध्यानमें लायें तो यह न भूलें कि यह सब वीतरागताका चमत्कार है।

समवशरणअहो! कैसी अपूर्व समवशरणकी रचना है? पृथ्वीतलसे कुछ कम ५ हजार धनुष ऊपरसे ये सब रचनाएँ चलती हैं। भगवान ५ हजार धनुष ऊपर विराजमान रहते हैं। चारों ओरसे रम्य पहाड़ियाँ बनी हुई हैं। जमीनपर समवशरण कैसे बने, पर्वत हैं, नदी हैं, नगर हैं, ये कहाँ हटा दिये जायें? कहाँ मिलेगा ऐसा मैदान जहाँ १२ कोस तक मैदान ही मैदान पड़ा हो। जरा कठिन हो जाता है। ऐसी प्रकृत्या रचनाएँ चलती हैं, बृद्धियाँ चलती हैं। इस पृथ्वी तलसे ५ हजार धनुष ऊपरसे ये समस्त रचनाएँ हैं। सीढ़ियोंसे ऊपर जाकर मानस्तम्भ हैं। मानियोंका मान उस अद्भुत रचनाको

देखकर गल जाता है। आगे बढ़ जाते हैं तो गोलाकारमें पहिले किला जैसा, फिर खातिका, फिर वेदिका, फिर ध्वजा इस तरह अनेक अद्‌भुत रचनाएँ चलती जा रही हैं। जब अन्दरके गोलमें पहुँचते हैं तो वहाँ १२ सभाएँ हैं। एक-एक दिशामें तीन-तीन सभायें बनी हुई हैं। एक बड़ी स्फटिक की वेदिका है, उसके अन्दर गंधकुटी विराजमान है जिस पर भगवान विराजे हैं, चारों ओर से देवी देवता मस्त होकर भक्तिसे ओत-प्रोत बड़े आल्हादसे गानतान करते चले आ रहे हैं। अहो, इतना अद्‌भुत चमत्कार, यह किसका प्रताप है? यह वीतरागताका प्रताप है।

निःकांक्षिताकी पूजा और विकासएक आत्मा जो कुछ नहीं चाह रहा है, जिसने एक शुद्ध स्वभावका अवलम्बन किया था, जिसके फलमें ऐसा सहज पूर्ण विकास है कि तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थ स्पष्ट प्रतिबिम्बित हो रहे हैं ऐसे सर्वज्ञ वीतराग प्रभुकी सेवामें मनुष्य क्या, बड़े-बड़े तिर्यञ्च क्या, देव देवियाँ सभी भी एक साथ आ रहे हैं। यह सब वीतरागताका प्रभाव है। आनन्द वीतरागतामें ही है। शुद्ध विकास वीतरागतामें ही है। जगतके जीवोंको जितना भी क्लेश है वह सब रागका क्लेश है। इस जगतके जीवमें यदि किसी चीजका राग न रहे तो फिर उसे क्लेश ही किस बातका है? इन जीवोंको जितने भी क्लेश प्राप्त हो रहे हैं वे सब रागके ही कारण प्राप्त हो रहे हैं। और इस रागसे भी अधिक महान् क्लेश है मोहका। अरहंत परमेष्ठी बहुत समय पर्यन्त जब तक उनकी आयुके थोड़े ही दिन बाकी नहीं रहते तब तक उनके द्वारा धर्मोपदेश विहार आदि हो रहे हैं। वे प्रभु अंतमें योग निरोध करते हैं। पहिले तो लोगोंको दिखने वाले योग रुक जाते हैं, जैसे विहार करना आदि दिव्यध्वनि होना। पश्चात् जब अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है एक अन्तर्मुहूर्तमें अनेक अन्तर्मुहूर्त होते हैं, तब उनके वचनका निरोध, श्वासोच्छ्वास निरोध हुआ, स्थूलकाययोगका निरोध, मनका निरोध अर्थात् जो द्रव्य मनोयोग था उसका निरोध, ये सब निरोध होकर अंतमें अयोगकेवली बनकर पंच ह्रस्व अक्षरोंके बोलनेमें जितना समय लगता है उतने ही मात्र समयमें अयोग केवली गुणस्थानमें रहकर वे मुक्त हेा जाते हैं।

आत्माका चरम विकास व उसकी भक्तिमें कर्तव्यअब चार अघातिया कर्मोंसे वे मुक्त हो गए, शरीरसे वे मुक्त हेा गए। अब धर्म आदिक द्रव्योंकी तरह सर्व प्रकारसे शुद्ध वे आत्मदेव हो जाते हैं। वे सिद्ध परमेष्ठी हैं। इनका ध्यान ज्ञानी पुरुष शुद्धस्वभावके नाते से कर रहा है। पंचपरमेष्ठियोंकी पूजा आत्मविकासके नातेसे की जा रही है। आत्मविकास ही उपादेय है ऐसा जानकर जहाँ आत्मविकास मिलता है ज्ञानी पुरुषके वहाँ ही प्रीति उत्पन्न होती है और उस ज्ञानविकास, आत्मविकासकी प्रीतिमें ही ये सब प्रवृत्तियाँ चलती हैं। अतः हमें अपना लक्ष्य योग्य बनाना है। अशुभोपयोगसे हटनेके लिए हम शुद्धोपयोगके कार्योंमें अधिकाधिक लगें ओर दृष्टिके लक्ष्यमें शुद्धस्वरूपके विकासका भाव बनायें, चाहे वह कभी भी हो। लक्ष्य तो अभीसे बना लेना चाहिए। यों ज्ञानी पुरुष शुद्ध आत्मा की भावनामें जो आनन्द उत्पन्न होता है उस आनन्दरससे तृप्त होकर संसार सुखकी इच्छा नहीं करता है।

सम्यक्त्वोन्मुख आत्माकी विशुद्धि एवं लब्धियाँभैया! सम्यक्त्वके परिणामका तो महत्व ही क्या कहा जाय, केसे कहा जा सकेगा जब कि सम्यक्त्वके उन्मुख होनेवाले जीवके परिणाममें ही इतनी बड़ी महिमा है कि उस अभिमुखतामें ही कितनी प्रकृतियोंका बँध रोक लेता है, जो ५वें, छठवें, ७वें गुणस्थानमें बँध सकता है। कुछ प्रकृतियाँ ऐसी हैं जो छठे गुणस्थान तक भी बँधती हैं उनका बँध मिथ्यादृष्टि जीव जो सम्यक्त्वके अभिमुख हो रहा है उसके रुक जाता है। गुणस्थानके हिसाबसे उन्हें सम्वर नही कहा गया, किन्तु सम्यग्दर्शन के अभिमुख जो जीव है उसके कितनी ही प्रकृतियाँ बँधनेसे रुक जाती हैं। सम्यग्दर्शन ५ लब्धियोंके बाद उत्पन्न होता है पहिली क्षयोपशमलब्धि, दूसरी विशुद्धिलब्धि, तीसरी देशणालब्धि, चौथी प्रायोग्यलब्धि, पांचवीं करणलब्धि। क्षयोपशमलब्धिमें इस जीवके साथ जो कर्म बँधे हुए हैं उन कर्मोंमें क्षयोपशम विशेष होने लगता है, जिस क्षयोपशमके फलमें इस जीवमें विशुद्धि आने लगती है। जिस विशुद्धिसे बढ़कर यह जीव इतना पवित्र बनता है कि उसमें दूसरेके तत्वके ग्रहण करनेकी शक्ति आ जाती है। उपदेश ग्रहण करनेकी शक्ति आना इसे देशनालब्धि कहते हैं। अब वर्तमानमें देखो कि तीन लब्धियोंके पानेकी सभीके योग्यता है। कर्मोंका इतना क्षयोपशम है कि जो निगोद पर्यायसे निकलकर, स्थावरोंसे निकल कर, विकलत्रिकोंसे निकलकर संज्ञी पंचेन्द्रिय हुए और संज्ञी पंचेन्द्रियमें भी मनुष्य हुए।

मनुष्यगतिकी विशिष्टतासब गतियोंसे बड़ी विशेषता मनुष्यमें होती है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रकी पूर्णता इस गतिमें ही हो सकती है। मनकी स्थिरता मनुष्यगतिमें ही होती रहती है। देवगतिके जीव भी सम्यग्दृष्टि होते हैं, ज्ञानी होते हैं, किन्तु उनके चित्तमें स्थिरता नहीं होती है। चित्त स्थिर रख सकनेकी योग्यता मनुष्यमें है। कारण यह है कि संसारमें जिसको जितनी सुविधा है, सिद्धि ऋदि प्राप्त होती है उसके चित्तमें प्रायः स्थिरता कम होती है। कहते तो लोग यह हैं कि भाई कुछ साधन जुट जाय तो चित्त स्थिर हो जाय। इतनी सम्पत्ति हो जाय कि किराये भाड़ेसे अपना काम चलने लगे तो चित्त स्थिर हो जाय। बैठे-बैठे रहें, आरम्भ कुछ न करना पड़े, फिर तो खूब धर्म करेंगे पर जैसे ही उस लक्ष्मीकी शक्ल-सूरत सामने खूब आ जाती है तो इसका चित्त अस्थिर हो जाता है। न कुछ परिकर हो उस स्थितिमें यह अपने चित्तको स्थिर बना सकता है, पर जहाँ सम्पत्ति इसको प्राप्त होती है, सम्पत्ति बढ़ जाती है वैसे ही चित्तमें अस्थिरता बढ़ जाती है। प्रायः देखो धर्मके भक्त कितने लोग हैं? धर्मकी तरफ थोड़ा लोगोंको ख्याल भी कम है। आप देख लीजिए कि धर्म करने वालोंकी संख्या कितनी है? सारे देशमें दृष्टि डाल लो और कोई खेल खिलौना, सनीमा आदि होने लगे तो कितनी संख्या जुड़ सकती है? कितना उपयोग और उत्साह जगता है? तो क्या कारण है कि सर्व प्रकारकी पात्रता भी है और फिर भी स्थिरता नहीं होती है। देवगतिके जीवोंमें चित्तमें स्थिरता नहीं है इसलिए वे संयमके पात्र नहीं होते हैं। उनको भूख नहीं लगती, प्यास नहीं लगती। हजारों लाखों वर्षोंमें यदि भूख-प्यास लगी भी तो उनके कंठसे अमृत झड़ जाता है, किन्तु यत्न नहीं करना पड़ता है। कितनी सुविधा है उनको? इतनी सुविधामें भी देव गतिके जीव

स्थिर नहीं रह पाते हैं। उनका चित्त डोलता रहता है। तो वैभव सम्पन्न होनेसे चित्त स्थिर होगा ऐसा भ्रम है। ज्ञानबल होगा तो चित्त स्थिर होगा, सम्पन्नतासे चित्त स्थिर न होगा। चारों गतियोंके जीवोंमें खूब परख लो मनुष्यका कितना उत्कृष्ट जीवन है?

उत्कृष्ट अवसरसे लाभ न उठानेका खेदइतना उत्कृष्ट जीवन पाकर भी हम अपने सहजस्वरूपकी दृष्टिमें नहीं लगते, जिसके आलम्बनसे मोह रागद्वेष दूर होते हैं। जो यत्न, पुरुषार्थ पुराण पुरुषोंने किया है और वे परमात्मा हुए हैं उस शुद्ध सहज स्वरूपका हम दर्शन नहीं करें उसकी उत्सुकता न जगायें और बाह्य पदार्थोंमें ही दृष्टि फंसाकर अपना समय गुजारें तो कहना होगा कि जैसे लोकमें अनन्त भव गुजारे इसी प्रकार यह भी भव गुजार दिया। कमजोरी तो अपने आपकी है, किन्तु यह कमजोरी अपने आपका स्वभाव तो नहीं है, यह नैमित्तिक चीज है। जो औपाधिक, नैमित्तिक मायामय होता है वह दूर हो सकता है और जो स्वभावरूप होता है वह दूर नहीं होता है।

स्वभावदर्शनका प्रकाशस्वभावदर्शन करने वाले ज्ञानी पुरुषकी लीला अकथनीय है। वह ज्ञानी पुरुष किसी भी कथनमें अपने स्वरूपदर्शनका प्रयोजन निकाल लेता है। शब्द वे ही हैं पर जिसकी जैसी योग्यता है वह अपनी योग्यतासे उसमें वैसा ही अर्थ निकाल लेता है। एक बच्चा बारह भावनाका कोई दोहा पढ़े, उस दोहाको सुनकर किसी के चित्तमें तो वैराग्य बढ़ा, किसीके चित्तमें स्वरूपदृष्टि जगी और कोई इतना ही जानकर अपना उपयोग कर लेता कि यह पढ़ रहा है, इसने अच्छा याद किया है। बात वही है और उसको सुनकर जिसकी जितनी योग्यता है वह अपनी योग्यता माफिक उसमें अर्थ देख लेता है तो ज्ञानी पुरुष व्यवहारनये यों देखता है कि ये रागादिक कर्म पुद्गलकर्मके उदयके निमित्तसे होते हैं। ये स्वभाव भाव नहीं है तो इस कथनमें उसे स्वरूपदर्शन की उत्सुकता जगती है। वह खिंचता किस ओर है? स्वभावकी ओर। जैसे एक गृहस्थका लड़का और एक पड़ोसका लड़का दोनोंमें कुछ कलह हो तो न्यायनीतिकी बात कहकर वह झुकता है जिसमें अपनी रुचि हो इसी प्रकार स्वभाव और विभावके कथनमें भी सारी दृष्टियोंका वर्णन करते हुए ही झुकता किस ओर है? जो अपना अनादि अनन्तस्वभाव है उस ओर झुकता है।

प्रायोग्यलब्धिमें विशुद्धियह जीव जब सम्यग्दर्शनके अभिमुख होता है तब उस समयके ही विशुद्ध परिणामका हम वर्णन करनेमें असमर्थ होते हैं तो सम्यग्दर्शनके परिणाम का तो वर्णन ही कौन कर सकेगा? जिन प्रकृतियोंका बँध छठे गुणस्थान तक भी चल सकता है उन प्रकृतियोंका बँध यह मिथ्यादृष्टि जीवको सम्यक्त्वके अभिमुख है वह रोक लेता है। जिस समय कर्मोंके अंतः कोड़ाकोड़ी सागर स्थितिबँध होने लगता है तब जीव सम्यक्त्वके अभिमुख हो सकता है। कोई हो अथवा न हो, यह स्थिति एक कोड़ाकोड़ी सागरसे बहुत नीचे है। यह परिस्थिति प्रायोग्यलब्धिके प्रारम्भमें है।

मिथ्यादृष्टिकी इस विशुद्धिमें आयुबंधका निरोधअब सम्यग्दर्शनके अभिमुख जीवके परिणामोंका प्रताप देखिए। अंतः कोड़ाकोड़ी सागर स्थितिबँध करने वाला जीव विशुद्ध परिणामोंमें

बढ़कर जब सात आठ सौ सागर कम स्थितिबँध करने लगता है तब वह नरक आयु का भी बंध नहीं कर सकता है। इतनी विशुद्धि इस मिथ्यादृष्टि जीवके हुई। जो सक्यक्त्वके अभिमुख जैसी स्थितिमें है, चाहे आगे सम्यक्त्व हो अथवा न हो, यह बँध पहिले कम हो हो करके कितनी ही देर बाद सैकड़ों सागरकी कम स्थिति होती है, फिर इसी तरह कम होता हुआ जब सात आठ सौ सागर कम स्थितिबँध होने लगता है तब इसके इतनी विशुद्धि बढ़ती है कि तिर्यञ्च आयुका बँध नहीं होता है। और सात आठ सौ सागर कम बँध होने पर मनुष्य आयुका बँध नहीं होता है। सात आठ सौ सागर और कम होनेपर देव आयुका बँध नहीं होता है। इसे कहते हैं पृथक्त्व शत सागर।

विशुद्धिके प्रतापमें और वृद्धिइतना ही नहीं, और कम बँध होनेपर नरकगति नरकगत्यानुपूर्वीका बँध नहीं हो सकता है। आगे यह दिखाया गया है कि ऐसी भी प्रकृतियाँ हैं जो छठे गुणस्थानमें बँध जाती हैं, पर उस मिथ्यादृष्टिके नहीं बँधती हैं जो थोड़े समयके सम्यक्त्वके अभिमुख हो रहा है। बादमें सम्यग्दर्शन होनके बाद वे प्रकृतियाँ चाहे बँधने लगें, मगर विशुद्धिका प्रताप तो देखिये कि मिथ्यादृष्टि जीवके कितनी प्रकृतियोंका बँध रुक जाता है। इसके बाद जब सात आठ सौ और कम स्थितियोंका बँधहोने लगता है तो सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण इन तीनोंका एक साथ बँध रुक जाता है। याने त्रिकका युगपत् बँध नहीं होता। जब सात-आठ सौ सागर और कम स्थितिबँध हो जाता है तब सूक्ष्म अपर्याप्त प्रत्येक इस त्रिकका बँध नहीं होता है। इसी तरह चलते जाइए, फिर दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय अनुत्कृष्ट संहनन और संस्थान और अंतमें अस्थिर, अशुभ, असाता, अयश, अरति, शोक, असुचि जिनका छठे गुणस्थानमें तो बँध होता है इनका भी बँध उस सम्यग्दर्शनके अभिमुख होतेके समयमें नहीं होता है। यह सब प्रायोग्यलब्धिकी बात कह रहे हैं। इतनी विशेष योग्यता इस चौथी लब्धिमें हो जाती है।

सम्यक्त्वप्राप्तिमें करणलब्धिकी साधकतमताइतना काम हो चुकनेके बाद भी करणलब्धि प्राप्त न हो तो सम्यक्त्व नहीं होता है। करण तीन हैं अधोकरण, अपूर्वकरण और अनिवृतिकरण। तो यह समझिये कि निर्मलतामें बढ़नेके ये तीन परिणाम हैं। कोई जीव जब निर्मलतामें बढ़ता है तब उसके बढ़ावमें ये तीन तरहकी स्थितियाँ होती हैं। पहिले बढ़ावमें ऊपरके समयके परिणाम नीचेसे मिल जायें, दूसरे बढ़ावमें ऊपरके समयके परिणाम नीचे तो न मिलें, पर बराबरीके समयवालोंमें मिल भी जायें, न भी मिलें। और तीसरे बढ़ावमें एक समयवालेके एक सदृश ही परिणाम होते हैं। ये बढ़नेमें तीन बातें आती ही हैं। पूरी सावधानी तीसरी बारमें होती है। व्यवहारमें भी तो किसी कामको करनेके लिए तीन मौके दिये जाते हैं। जब स्कूलोंमें खेल-कूद दौड़-धूप आदिक प्रतियोगिताएँ होती हैं तो उन्हें वन टू थ्री कहकर कार्य शुरू कराते हैं। सावधानीके ये तीन अवसर हैं।

सावधानीके अवसरोंका एक दृष्टान्तजैसे बहुतसे सिपाही लोग अपनी मौजमें बैठे हुए हैं, कमाण्डरने उन्हें बुलाया तोउसके पास सब सिपाहियोंको लेफ्ट राइटकी विधिसे एक लाइनमें पहुँचना

चाहिए। अभी गप्पसप्प कर रहे हैं, सो कमाण्डरके पास जानेमें उनके तीन यत्न होते हैं। पहिले यत्नमें वे झट लाइन बनाते हैं, सो कुछ लाइन बनी कुछ न बनी। उनमें कुछ पीछे हैं, कुछ आगे हैं। दूसरे सावधानीमें लाइन तो ठीक हो गई पर अभी लेफ्ट-राइटके कदम ठीक नहीं हुए। तीसरी सावधानीमें अब सब लेफ्ट राइट की हालतमें हो गए। तीसरे यत्नमें एकदमसे उनमें समानता हो जाती है। उन सबके हाथ और पैर दोनों एक साथ उठ रहे हैं। ऐसे ही निर्मलतामें बढ़ रहे इस सम्यक्त्वके अभिमुखी जीवको ये तीन परिणाम होते हैं। इन तीनों परिणामोंके हो चुकनेपर अंतमें प्रथम उपशम सम्यक्त्व होता है।

स्वभावानुभूतिपूर्वक सम्यक्त्वकी जागृति□भैया! सम्यक्त्व जब जगता है तब स्वरूपका अनुभव करता हुआ जगता है, और निजस्वभावके अनुभवमें उत्पन्न हुए आनन्दरस से तृप्त होता हुआ जगता है। पीछे चाहे उपयोग स्वभावपर न रहे, कषाय विपाकमें प्रवृत्तियाँ होने लगें, लेकिन लब्धिरूपमें वह सब ज्ञान बना रहता है ऐसा विशुद्धपरिणामी सम्यग्दृष्टि जीव जिसने आत्मीय आनन्दरसका स्वाद लिया है वह वैषयिक सुखमें आदर बुद्धि कैसे करेगा? यह विकार पिशाच है। पंचेन्द्रियके विषय सम्बन्धी विचार विकल्प इस जीवको भुलावेंमें डाल देते हैं। तो विकल्पोंमें यह जीव विषयोंमें भोगोंमें प्रवृत्त होता है। आसक्ति हुई तो यह जीव हित अहित कुछ नहीं गिनता है, किन्तु जिसकी दृष्टि विशुद्ध है, स्वभावमें दृष्टि है, ज्ञान है और सहज वैराग्य है ऐसे जीवको विषयोंके सुखमें प्रेम नहीं उत्पन्न होता है। ये इन्द्रियविषय बहुत धोखेसे भरपूर हैं, स्वभावदृष्टिके बाधक हैं। विषय यद्यपि कषाय के ही रूप हैं पर कषायसे भी अधिक धोखे वाला समझकर कषायसे पहिले विषय शब्द लगा देते हैं। ''आत्माके अहित विषयकषाय।''

इन्द्रियविषयसे अनर्थ□अहो एक-एक इन्द्रियके वशमें होकर जीव अपने प्राण गंवा डालता है, बहुतसी प्रसिद्ध बातें हैं। स्पर्शन इन्द्रियके वशमें होकर हाथी जैसा बड़ा जानवर जिसमें इतना बल है कि सिंहको भी पकड़कर दो टूक कर दे। सिंहमें फुर्ती है इस कारण हाथीपर विजय कर लेता हे पर बल देखा जाय तो हाथीमें बल अधिक होगा। ऐसा बलवान जानवर भी स्पर्शन इन्द्रियके वशमें होकर बँधनमें होता है। पकड़ने वाले लोग हाथी को इसी तरह पकड़ते हैं कि एक बड़ा गड्ढ़ा खोदा, उसके ऊपर पतले बॉस बिछा दिये और ऊपर बहुत सुन्दर रंगोंसे रंगकर एक हथिनी बनाते हैं और होशियार पकड़ने वाले हुए तो एक हाथी और बना देते हैं एक या दो फर्लांग दूर पर। उस हाथीको दौड़नेकी शकलवाला बना देते हैं। जंगलका हाथी उस हथिनीको देखकर मोहित हो जाता है और उस हाथीको देखकर द्वेष भी करता है। कि यह हाथी दौड़कर आ रहा है। यह न आ सके, मैं पहिले पहुँचूं। इसमें देखो जंगलके हाथीमें मोह, राग और द्वेष तीनों परिणतियाँ चल रही हैं। मोह तो यही है अज्ञान। यथार्थ स्वरूपका पता न रहा क्योंकि विषयोंमें आसक्ति है। कुछ भी विचार कर सकनेका उसके अवसर नहीं है। कहीं गड्ढ़ा है या नहीं, जान आफतमें आ जायगा कि नहीं, यह कुछ विवेक नहीं रहता है। सोचनेका अवसर ही नहीं रहता है क्योंकि कामवासनाकी वृत्ति इतनी है कि उसे अन्य

बातें नहीं सुहाती हैं। यह तो हुआ मोह। और हथिनीके रूपमें राग हुआ, और दूसरा हाथी उसके पास पहिले न जा सके यह उसका द्वेष हुआ। सो राग-द्वेष मोहके वशमें होकर वह हाथी उस गड्ढ़ेपर पहुँचता है, बाँस टूट जाते हैं और वह गिर जाता है। कई दिन तक उसे भूखा रखा जाता है। फिर रास्ता बनाकर उसे निकाल लिया जाता है और अपने वशमें कर लिया जाता है या भूखे ही वह हाथी अपने प्राण गंवा देता है।

रसना आदिक इन्द्रियोंसे अनर्थरसना इन्द्रियके वशमें मछलीका दृष्टांत बड़ा प्रसिद्ध है। शिकारी लोग जालमें कुछ खानेकी चीज, मांस जैसी चीज या जीव-जन्तु लगाकर जलमें डाल देता है। उसमें कांटा तो लगा ही रहता है। उसको वह मछली खा लेती है, वह कांटा उसके गलेमें फंस जाता है और वह मछली अपने प्राण गंवा देती है। भंवरा गंध में आसक्त होकर कमलके फूलमें छिप जाता है, जिस भंवरेमें इतनी शक्ति है कि वह काठ को भी छेद भेद करके निकल जाता है पर गंधमें आसक्त होनेके कारण कमलके फूलको भी वह छेदभेद नहीं सकता है और उस कमलके फूलमें छिपकर वह भंवरा अपने प्राण गंवा देता है। दीपकपर बैठकर पतंगे अपने प्राण गंवा देते हैं। यद्यपि वे दूसरे पतंगोंको देखते हैं कि मर रहे हैं पर चतुरिन्द्रियके वशीभूत होकर वे पतंगे अपने प्राण गंवा देते हैं। हिरण, साँप ये संगीतके वशमें होकर शिकारीके फंदेमें पड़ जाते हैं।

विषयोंके अनर्थके परिज्ञानसे शिक्षाएक-एक इन्द्रियका विषय भी विनाशकेलिए हो रहा है। तो अज्ञानी मनुष्यकी तो कहानी देखो कि कौनसे विषयोंमें यह कमी कर रहा है या गम खाता है? सर्व इन्द्रियोंमें व्यर्थकी इन्द्रिय है नाक। इस तकका भी तो ये जीव बड़ा ख्याल रखते हैं। इत्र चाहिए, फुवा लगाना चाहिए, नाकमें लगाना चाहिए। कैसा इन्द्रियके वशमें है यह जीव कि उसे अपनी स्वभावदृष्टिका कुछ श्रद्धान ही नहीं होता है। और स्वभावदृष्टिके बिना इस जीवको शांति नहीं मिल सकती। अतः हमें ज्ञान, ध्यान आदि समस्त प्रवृत्तियोंसे अपनी स्वभावसाधनाके लिए यत्न करना और इसके लिए उत्सुक रहना चाहिए।

अब अष्ट अंगके प्रकरणमें तीसरा निर्विचिकित्सा अंग है, उसका यहाँ वर्णन किया जाता है

जो ण करेदि जुगुप्पं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगच्छो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३१ ॥

निर्जुगुप्सक सम्यग्दृष्टिजो जीव सभी धर्मोंमें ग्लानिको नहीं करता है वह निश्चयसे निर्विचिकित्सा दोषरहित सम्यग्दृष्टि है, ऐसा मानना चाहिए। जुगुप्साका अर्थ है निन्दा, दोष ग्रहण करना, ग्लानि करना, इन सब बातोंको सम्यग्दृष्टि नहीं करता है। सम्यग्दृष्टिको परमात्मतत्वकी भावनाका महान् बल प्रकट हुआ है और उस भावनाके फलमें उसने यह अनुभव किया है कि सर्व जीवोंमें सार, सर्वस्वभूत यह चैतन्यस्वभाव एकस्वरूप है। यहाँ अर्थात् स्वभावदृष्टिमें स्वरूपकी समानता कहते हैं कि उसमें हीनाधिकता नहीं है।

जातिकी अपेक्षा जीवोंकी एकतायदि जीवके स्वभावमें हीनाधिकता होती तो जीव ६ न कहे जाकर ७ कहे जाते, अनेक कहे जाते। यद्यपि द्रव्य अनन्त हैं, ६ नहीं हैं, क्योंकि उस एकका लक्षण है, जितना परिणमन एक पूरेमें होना ही पड़ता है, जिससे बाहर कभी नहीं होता है उसको एक द्रव्य कहते हैं। जैसे जीवका ज्ञानपरिणमन है, जाननपरिणमन, आनन्दपरिणमन या विकार अवस्थामें रागद्वेषादिकरूप परिणमन, सुख-दुःख आदिक परिणमन ये जीवके जितने पूरेमें होते हैं उतनेको एक कहते हैं। कोई विवक्षित सुख-दुःख किसी अन्य जीवमें नहीं होता है। जिसका सुख-दुःख परिणमन है उसका उस ही में होता है और उसके पूरे जितनेमें वह विशेषता है उतनेमें होता है। जीवका ज्ञानपरिणमन आधे प्रदेशोंमें हो और आधेंमें न हो ऐसा नहीं है। एक परिणमन जितनेमें होना ही पड़ता है उसको एक कहते हैं। यों अनन्ते जीव हैं, पुद्गल अनन्ते हैं और भी द्रव्य हैं। तो भी उनको जाति अपेक्षासे ६ प्रकारके कहे हैं।

एकके स्वरूपपर बाँसका दृष्टान्तइसके लिए मोटा दृष्टान्त बाँसका बताया है। दृष्टान्त तो दृष्टान्त ही होता है। बाँस भी एक द्रव्य नहीं है। वह अनन्त पुद्गल परमाणु द्रव्य का स्कंध है, फिर भी एक व्यावहारिक दृष्टान्त है। और एक दृष्टान्तसे उसमें दृष्टान्त घटाया है कि जैसे बाँस पड़ा है उसका एक छोर हिले तो सारा बाँस हिल जाता है, क्योंकि वह एक हैं बाँससे चौकी अलग है तो बाँसके हिलनेसे चौकी नहीं हिलती है। एक वह कहलाता है कि कोई गुण परिणमन जितनेमें होना ही पड़ता है। इस दृष्टिसे जगतमें जीव अनन्त हैं और जीवोंसे अनन्तगुणे पुद्गल द्रव्य हैं।

जीवसे अनन्तगुणे पुद्गलोंकी सिद्धिएक-एक संसारी जीवके साथ अनन्त पुद्गल द्रव्य लगे हैं, मुक्त जीवोंके साथ नहीं लगे हैं। पर मुक्त जीवोंसे अनन्तगुणे संसारी जीव है। एक जीवके साथ अनन्त पुद्गल लगे हैं। प्रथम तो उसके साथ जो शरीर लगा है वह शरीर ही अनन्त पुद्गलोंका प्रचय है। पर उस शरीरके साथ शरीरके ही विस्रसोपचयरूप परमणु लगे हैं। वे भी अनन्त हैं। इस जीवके साथ कर्म भी बद्ध हैं वे ज्ञानावरणादिक भी अनन्त हैं और विस्रसोपचय रूप कार्माणवर्गणाएँ भी लगी हैं, वे भी अनन्त हैं। तैजस शरीर है, तैजस वर्गणाएँ हैं वे भी अनन्त हैं। तो एक जीवके साथ अनन्त पुद्गल प्रथम लगे हुए हैं और अनन्त जीव हैं। तो पुद्गल द्रव्यका समूह तो जीवसे भी अनन्त गुणा है।

व्यक्तिसे अनेकता व जातिसे एकताका परिचय होनेपर निर्जुगुप्साका अभ्युदयजीव पुद्गलके अतिरिक्त और भी द्रव्य हैं, धर्म, अधर्म, आकाश भी एक-एक द्रव्य हैं। काल असंख्यात द्रव्य है। यों समस्त द्रव्य अनन्त हैं, किन्तु उन सर्वद्रव्योंको जातिकी अपेक्षा संक्षिप्त किया जाय, जातिमें सम्मिलित किया जाय तो वे सब द्रव्य ६ जातिके होते हैं। जाति जो बताई जाय उसमें न छूटना चाहिए और न भिन्न जातिका एक भी मिलना चाहिए वह जातिका लक्षण है। तो जीव जातिसे भी लक्षित किया गया है वह स्वरूप सब जीवोंमें हीनाधिकतासे रहित एक समान होना चाहिए। यदि एक जीवका दूसरे जीवमें लक्षण दृष्टिसे रंच भी अन्तर होता है तो उनकी जाति

अलग-अलग हो जाती है। इस तरह जीव-जीव सब असाधारण चैतन्यस्वरूपकी दृष्टिसे एक समान हैं। उनमें रंच भी अन्तर नहीं है। जीवकी ऐसी स्वरूपमहिमाको जानने वाला तत्वज्ञानी पुरुष उनमें निर्विचिकित्सा, निन्दा, घृणाका परिणाम नहीं करता है। अथवा अपने आपमें ही उत्पन्न होने वाले विकार परिणामोंमें वह खेदरूप निर्विचिकित्सा नहीं करता है अर्थात् उनके भी एक विकारी भाव है इस प्रकार जानता है पर उसके कारण उद्विग्न नहीं होता है। परिस्थिति है, औपाधिक भाव है, अथवा क्षुधा आदिक कोई वेदना हो जाय तो उन वेदनाओंमें भी अपनेको मलिन नहीं बनाता। उनका ज्ञाता द्रष्टा रहता है। अथवा उस समयमें भी अपनी सावधानीको नहीं खोता है। व्यवहारदृष्टिसे जो ऐसे साधु-संत जन हैं, रत्नत्रय की मूर्ति है, ऐसे पुरुषोंमें ग्लानि, जुगुप्सा, निन्दा आदि भावोंको नहीं करते हैं।

निर्विचिकित्सत अङ्गपर एक दृष्टान्तका भाषणनिर्विचिकित्सा अंगका एक कथानक बहुत प्रचलित है। स्वर्गमें सभामें चर्चा हुई निर्विचिकित्सा अंगके प्रति कि भूलोकमें राजा उद्दायन अति प्रसिद्ध है। धर्मात्मा पुरुषोंको देखकर, उनके मलिन रुग्ण शरीरको देखकर राजा उद्दायन ग्लानि नहीं करता है। जैसे माँ अपने बच्चेकी किसी भी प्रकारकी सेवामें ग्लानि नहीं करती। वह बच्चा माँके कपड़ोंमें मल भी कर दे, मूत्र भी कर दे, इतनी तरह की झंझटोंमें भी माँ अपने बच्चेसे ग्लानि नहीं करती। इसी प्रकार जो धर्मरुचिया पुरुष हैं वे धर्मात्मा जनोंकी सेवामें रत रहते हैं, उनकी सेवामें ग्लानिका परिणाम नहीं करते, घृणा नहीं करते। कोई यदि किसी धर्मात्मासे घृणा करे या अन्तरमें ईर्ष्याद्वेष रखे तो ऐसी वृत्ति सम्यग्दृष्टिमें नहीं हो सकती है। जिसके पर्यायबुद्धि है, अपनी वर्तमान परिस्थितिमें अहंकार है, तत्वसे अपरिचित है ऐसे पर्याय व्यामोही जीवके ही दूसरेको तुच्छ गिननेका और इसी कारण द्वेषके निहारनेकी बुद्धि रखनेका यत्न करता है, व्यसन रखता है, तत्वज्ञानी पुरुष धर्मात्मा जनोंमें विचिकित्सा, निन्दा, घृणा, ग्लानिको नहीं करता है।

देवद्वारा उद्दयान राजाकी परीक्षाऐसा व्याख्यान सुनकर एक देवके मनमें ऐसा आया कि हम जाकर परीक्षा करें कि उद्दायन राजा किस प्रकार निर्विचिकित्सा अंगको पालता है। आया वह भू लोकमें बना लिया कोई भेष। तो साधुका भेष बनाया देवने और चर्याके लिए चला मुद्रा सहित। उद्दायन राजाने जब देखा कि साधु महाराज आ रहे हैं तो बड़ी भक्तिसे पड़गाहा, भोजन कराया। देव भोजन नहीं करते, पर मायामय उनकी पर्याय जो होती है वह नाना प्रकारकी बन जाती है। कैसा ही रूप रख लें, पत्थर, पहाड़ जैसे दृश्य भी बना लें। तो भोजन करनेके बाद देवने वहीं वमन कर दिया। सो वमन तद बड़ी दुर्गंधित चीज होती है। उसके बाद भी उद्दायन राजा व उनकी रानी दोनों बड़ी भक्ति से उनकी सेवामें लगे हैं। ग्लानि नहीं करते हैं, वे अपने ही कर्मोंका दोष देते हैं। कैसा मेरा उदय आया कि इन्हें यहाँपर ऐसी तकलीफ हो गई। वे राजा और रानी अपने विनयमें, धर्मबुद्धिमें अन्तर नहीं डाल रहे हैं। कुछ ही समय बाद वह देव वास्तविक देव रूपमें प्रकट होकर

राजा उद्दायनकी स्तुति करने लगा। धन्य हो तुम। जैसा सुना था, जैसा जिनधर्मी को होना चाहिए वैसा ही स्वरूप आपका मिला। ऐसा कहकर देव प्रणाम करके चला गया।

भैया! प्रथम तो किसी जीवसे भी घृणा नहीं होनी चाहिए। पर जो जिनशासन की सेवामें लगे हुए हों ऐसे पुरुषोंके प्रति भी अर्थात् धर्मसाधक पुरुषोंके प्रति भी कोई यदि ईर्ष्या, द्वेष, विचिकित्सा, ग्लानि रखता है तो उसे स्वयं यह अपनी कमजोरी सोचना चाहिए कि मेरे तत्वकी स्फूर्ति नहीं हुई है, मलिन परिणामोंमें ही बसकर हम बँधकर रहे हैं। परमात्मत्वकी भावनाके बलसे ज्ञानी जीव सर्व ही धर्मोंमें जुगुप्साको नहीं करते हैं। वस्तुस्वभावमें विभावमें प्रत्येक जीवमें विचिकित्सा ग्लानिको नहीं करते हैं और जिसकी ऐसी निर्विचिकित्सा रूप प्रवृत्ति होती है वह धर्मात्माके प्रसंगमें मल-मूत्र आदिसे तो ग्लानि करता ही नहीं, पर ऐसी भी एक साधारण वृत्ति हो जाती है कि किसी भी जगह हों, जा रहे हों, कोई गंदी चीज पड़ी हो तो उस समय भी नाक-भौंह आदि सिकोड़नेकी वृत्तियाँ नहीं होती हैं। इस कारण यह जीव टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावमय है, ऐसा उपयोगी है। जो अपने निश्चल सहज तत्वस्वरूपका प्रतिभास करता है ऐसे जीवको सब ही वस्तु धर्मोंमें जुगुप्सा नहीं होती है, उसे निर्विचिकित्सा बोलते हैं।

निर्जगुप्स ज्ञानी जीवके विचिकित्साकृत बँध नहीं होता है, क्योंकि ग्लानिका परिणाम नहीं है। पर द्रव्योंमें द्वेष करनेके निमित्तसे होने वाला बँध ज्ञानी जीवके नहीं होता है।

ग्लानिके होने व न होनेका कारणभैया! द्वेषकी प्रवृत्ति बहुत गंदी प्रवृत्ति है। मिलता क्या है द्वेष करके? द्वेष करनेसे कुछ भी तो हाथ नहीं आता है। और अपने आत्मा को वे देहको जलाया जाता है। बिना प्रयोजनके दुःख करता है, क्लेश करता है। दूसरे पुरुषोंको द्वेष करनेकी वृत्ति तब होती है जब अपनी पर्यायका अभिमान होता है। मैं ऊँचा हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ, धनमें, बलमें, सौभाग्यमें मैं सबसे श्रेष्ठ हूँ, ऐसी परिणति पर जब आत्मीयताकी बुद्धि होती है, यही मैं हूँ, मैं बड़ा हूँ, तब दूसरे जीवोंसे ग्लानिकी द्वेषकी प्रवृत्ति होती है। सम्यग्दृष्टि पुरुष कैसा स्पष्ट हो गया है अपने आपमें? उसके लिए ग्लानिकी द्वेषकी प्रवृत्ति होती है। सम्यग्दृष्टि पुरुष कैसा स्पष्ट हो गया है अपने आपमें? उसके लिए ग्लानिको बसाने वाला विभाव नहीं रहा। वह सब जीवोंको एक चैतन्यस्वरूपमय तकता है ऐसी उसकी पैनी अन्तरमें दृष्टि हो गई है।

अन्तर्दृष्टिकी विषयविधिपर एक दृष्टान्तजैसे हड्डीका एक्सरा लेने वाला यंत्र होता है उसके नीचे पड़ा हुआ पुरुष कपड़े पहिने हुए हो तो भी कपड़ेकी फोटो नहीं लेता, चमड़ेकी फोटो नहीं लेता, खून, मांसका फोटो नहीं लेता; किन्तु भीतरमें जो हड्डी है उसका ही फोटो ले लेता है। वह यंत्र अन्य सब चीजोंको छोड़ देता है इसी तरह तत्वज्ञानी पुरुष समस्त जीवोंको निहारकर ऐसी उसकी पैनी तीक्ष्ण अन्तरदृष्टि है कि वह उनकी पर्याय में न अटक कर, उनकी देहके भेदमें न अटककर होने वाले औपाधिक परिणामोंमें न बसकर अन्तरमें सहज अनादि अनन्त अहेतुक जो चैतन्यस्वरूप है उस चैतन्यस्वरूपपर दृष्टि पहुँचती है और इस वृत्तिसे उस ज्ञानी पुरुषको सभी जीव

प्रभुस्वरूप नजर आते हैं। जैसे अन्य लोगोंमें सभीमें राम और नारायण देखनेकी जैसी वृत्ति है और जो उनमें ज्ञानी संत लोग हुए हैं वे प्रत्येकको राम इस प्रकार निहारते हैं। इसी प्रकार तत्वज्ञानी पुरुष जीवके भेद और पर्यायमें अपना उपयोग न अटकाकर आंतरिक चैतन्यस्वरूपपर दृष्टि देता है और उस दृष्टिमें सर्व जीव चैतन्यस्वरूप समान नजर आते हैं।

रुचिके अनुसार दृष्टिकी उद्भूति—जैसे जिसका चित्त बड़े सुखमें है, बहुत प्रकारके आरामके साधन हैं, प्रसन्न मिजाज रहता है वह नगरमें घूमे और कोई दुःखी रोता हुआ नजर आए तो कुछ ऐसा उसे प्रतीत होता है कि ये ऊपरफट्टी रो रहे हैं, दुःखी कोई नहीं है। जो सुखमें मस्त है उसके ऐसी दृष्टि है कि जगतके जीवोंका दुःख मुश्किलसे पहिचान सकेगा। वह देखेगा भी तो यों सोचेगा कि ये कुछ नाटकसा कर रहे होंगे, कुछ ऐसा करना पड़ता होगा। यों ही रोते होंगे। उनके अन्तरमें कुछ वेदना है यह उसके ध्यानमें नहीं आ पाता, क्योंकि सुख पर्यायमें मस्त है। परमार्थतः कोई बाहरमें देखता जानता तो है नहीं। जो देखता जानता है सो निश्चयसे अपनेको ही देखता जानता है। जैसे खुद हैं तैसा ही तो अपना परिणमन होगा ना, जैसी स्वयंकी दृष्टि है उसके खिलाफ भी कुछ है दुनियामें, मगर वह उपयोगमें नहीं जंच पाता है। साधरणतया उनके ज्ञाता दृष्टा रहते हैं। जैसे इन व्यवहारी जीवोंमें परके प्रति अपनी दृष्टिके मुताबिक अनुभव होता है इसी प्रकार तत्वज्ञानी जीवोंमें अपनी दृष्टिके मुताबिक समस्त जीवोंके प्रति ख्याल और श्रद्धान होता है। जिसको सहज केवल शुद्ध ज्ञानमात्र कि दृष्टि है अर्थात् जिस स्वरूपमें जानन बसा है, जाननसे अतिरिक्त कुछ भी विभाव हो उसे स्वरूपमें नहीं लपेटता है, होता तो है मगर स्वरूप रूप नही जानता है, ऐसा भेद करके तीक्ष्ण दृष्टि रखने वाला पुरुष सब जीवोंके बाह्यस्वरूपको भी देखकर उनके बाह्य स्वरूपमें नहीं अटकता, किन्तु चैतन्यस्वरूपकी अन्तरदृष्टि करता है, ऐसी शुद्ध दृष्टि रखनेवाले पुरुषके निर्विचिकित्स अंग प्रकट होता है।

रुचिके विषयभूत पदार्थमें ग्लानिका अभाव—तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि जीवके वस्तुके धर्ममें, जिस विभावरूप धर्ममें जीव दुःखी ही भान हो सकता है, ऐसे क्षुधा, तृष्णा आदि भावोंमें और बाहरके जो मलिन पदार्थ हैं मल-मूत्र आदिक उन मलिन द्रव्योंमें ग्लानि नहीं होती और विशेषता धर्मीजनोंकी सेवाका प्रसंग हो तो वहाँ ग्लानिके अंशका नाम नहीं होता। धर्मकी रुचिके आगे मल मूत्र आदि की ग्लानि भी खत्म हो जाती है। जैसे माँको पुत्रकी रुचिके कारण पुत्रके मल-मूत्र आदिसे ग्लानि नहीं रहती। और यदि रुचि न हो तो ग्लानि करे। जैसे प्रेमसे अपने बच्चेकी नाक साड़ीसे भी पोंछ सकती है, दूसरेके बच्चेकी नाकको वह माँ अपनी साड़ीसे नहीं पोंछ सकती है, क्योंकि उससे प्रेम नहीं है। यह एक व्यावहारिक बात कही जा रही है। जहाँ रुचि होती है वहाँ ग्लानि नहीं होती है और जहाँ रुचि नहीं है वहाँ ग्लानि होती है और रागद्वेष उत्पन्न होते हैं।

कल्याणके लिये कर्तव्य—अपनेको करना क्या है? जिससे अपनी परिणति सुधरे, शांति आए वही तो काम करना है। किन्हीं को क्या दिखाना है, क्या बताना है, कहाँ महिमा बढ़ाना है,

स्वयं अपने आपमें अपना कल्याण करना यही काम करनेको पड़ा हुआ है। सो कल्याणस्वरूप जो खुदका ऐश्वर्य है, स्वरूप है उस स्वरूपकी रुचि जगना चाहिए। जिसको कल्याणस्वरूप निज तत्वकी रुचि जग जाती है उस पुरुषको कल्याणमूर्ति धार्मिक जनोंकी सेवामें ग्लानि नहीं होती है। उस ग्लानिका कारणभूत जुगुप्सा नामकी पर्यायका उदय है। ग्लानि करने रूप पर्याय जीवमें जीवके कारण नहीं हुआ करती। जीवमें होती तो है, पर जीवद्रव्यके स्वभावसे नहीं है। जुगुप्सा नामक प्रकृतिके उदयका निमित्त पाकर यह जीव अपने आपमें अपनी परिणतिको स्वतंत्र रूपसे करता है। जितने पदार्थ हैं वे मात्र अपनी परिणतिसे परिणमते हैं। दूसरे निमित्तभूत पदार्थोंकी परिणति लेकर नहीं परिणमते। स्वतंत्रता तो इतनी है, और चूँकि कोईसा भी विभाव उपाधिरूप पर-निमित्तके अभावमें नहीं उत्पन्न हो सकता, इस कारण सर्वविकारभाव परभाव कहलाते हैं। इनमें रुचि मत करो और इनसे अपनेको ग्लान मत बनावो।

निर्जुगुप्स ज्ञानीका कारजुगुप्सा नामक प्रकृतिका उदय होनेपर अपने आपकी ग्लानिरूप पर्यायका कर्ता होता है, पर ज्ञानी जीवके परमात्मतत्वकी भावनाका ऐसा बल है कि उस ज्ञानभावनासे उदय योग्य प्रकृतिको संक्रांत कर देता है और फिर उदय रहता है तो उसका अव्यक्त परिणाम रहता है। इस कारण सम्यग्दृष्टि जीवको जुगुप्साके कारण होने वाला बँध नहीं होता है। वह जुगुप्सा प्रकृति कुछ रस देकर छूट जाती है। वह आगामी कालकेलिए बँधका कारण नहीं बनती। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपकी भावनामें सावधान है और दूसरे जीवसे द्वेष, घृणा, ईर्ष्या आदि बातोंको नहीं करता है। ऐसे निर्विचिकित्सक अंगका धारी ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष निःशंक होकर अपने आपमें सदा प्रसन्न रहता है।

ग्लानि भावसे आत्मघातग्लानि करना एक आत्मघात दोष है। बाह्यपदार्थोंसे ग्लानि करते हुएमें इस जीवको स्वरूपकी दृष्टि तो रहती नहीं। बाह्यपदार्थोंमें द्वेष और जगता है। ग्लानिका मूल कारण द्वेष है। द्वेषकी प्रेरणामें ग्लानिकी उत्पत्ति होती है। जीव जब सर्व एकस्वरूप हैं, उनका सहज सत्व सहज लक्ष्ण एक समान है फिर उनमें से किसी को अपना मान लिया, किसीको पराया मान लिया, ऐसी जो अन्तरमें वृत्ति जगती है यही महाविष है। यह सारा संसार झूठा है अर्थात् परमार्थरूप नहीं है, विनाशीक है और दो पदार्थोंके संयोगके निमित्तनैमित्तिक भावसे होनेवाला इन्द्रजाल है। यहाँ कोई चीज विश्वास के योग्य नहीं है। किसका विश्वास करें, किसका शरण मानें, यह जीव मोहमें विश्वास करता है अपने परिजनोंका कुटुम्बका, मित्रोंका और चाहे वे परिवारके लोग मित्र जन भी अन्तर से अपने कषायके अनुसार प्रेम दिखाते हों, आज्ञा मानते हों, पर वस्तुके स्वरूपको मेट कौन देगा? जब पापका उदय आयगा तक सब ही विपत्ति बन जायेंगी अथवा जब आयुकर्मके विनाशका समय होगा तो कितना ही कोई प्रेम करनेवाला हो, कोई बचा नहीं सकता।

यथार्थज्ञानकी हितकारिताभैया! यथार्थ ज्ञान जीवको रहे तो विह्वलता नहीं हो सकती। अपने पुत्र परिवारमें विशेष राग और मोह परिणाम रहेगा तो उसमें वेदना ही बढ़ेगी, शांति नहीं हो

सकती। जो मिला है उसके ज्ञाताद्रष्टा रहो, घरमें ये पुत्र हैं, रहो, उनके ज्ञाता रहो। हैं वे भी एक जीव। और संयोगवश इस घरमें आकर जन्मे हैं, पर ये ही मेरे हैं बाकी सब गैर हैं, इस प्रकारकी जो अंतरंगमें श्रद्धा है यह श्रद्धा ही इस जीवको अंधेरेमें पटक देती है। उससे कोई सारभूत बात नहीं निकली। जैसे किसीसे राग करना आत्माका विनाश है, इसी प्रकार किसीसे द्वेष करना भी आत्माका विनाश है। राग और द्वेष इन दो पाटोंके बीच यह जीव पिसता चला आया है। करना कुछ पड़े पर ज्ञान यथार्थ रखो। जो बात जैसी है वैसी ही माननेमें कोई श्रम नहीं होता है। घर है, वही है, ठीक है, रहना पड़ रहा है, रहना ठीक है। बात वही करना है जो कर रहे हो इस गृहस्थावस्थामें, पर यथार्थ ज्ञान भी अन्तरमें बनाए रहो तो उसमें फर्क कहाँ आता है कोई सम्पत्ति घटती है या परिवार नष्ट होता है? बल्कि यथार्थ ज्ञान होनेके कारण न तो रागकी वेदना सतायेगी और न चिंताएँ सतायेंगी। इस कारण यथार्थ ज्ञान रखना इसमें ही अपने आपकी रक्षा है।

सम्यग्ज्ञानसे ही आत्मरक्षाआप जीवोंकी रक्षाका उपाय इस लोकमें और कुछ दूसरा नहीं है। किससे अपनी रक्षा हो सकती है? सभी दूसरे अरक्षित हैं। जिनको हम दूसरा मानते हैं और पर्यायकी मुख्यतासे जो हम ढाँचा देखते हैं वह ढाँचा ही स्वयं अरक्षित है। जो स्वयं मर मिटने वाले हैं वे हमारी रक्षा कैसे कर सकते हैं? हमारी रक्षाका करने वाला हमारा सम्यग्ज्ञान है। हम स्वयं सुरक्षित हैं, अरक्षित हैं कहाँ जो हम घबड़ाएँ। हाँ व्यर्थकी हठ ही परपदार्थ मेरे तो कुछ नहीं हैं और उनमें हठ कर जायें कि ये मेरे ही हैं, इन्हें मेरे ही पास रहना चाहिए था, इन्हें मेरे पास रहना पड़ेगा, इस प्रकार का एक व्यर्थका हठ, व्यर्थका ऊधम मचायें तो अपने ही इस दुराचारसे हम स्वयं दुःखी हो जाते हैं। हमारा स्वरूप सुरक्षित है, ऐसे सुरक्षित ज्ञानानंद मात्र सहज आनन्दका निधान शुद्ध ज्ञायक स्वरूपसे विमुख होना यह परमार्थसे बड़ी जुगुप्सा है। अपने आपके प्रभुस्वरूपसे मुख मोड़े रहना यही परमार्थसे ग्लानि है।

स्वरूपविमुखतामें अशरणताअपने आपके स्वरूपसे प्रभुरूपसे ग्लानि करके यह जीव कहाँ शरण पायगा? जहाँ जायगा वहाँ ही फुटबॉलकी तरह ठोकर खाकर वापिस आयगा। किसी शरण मैं जाऊँ? ये दिखने वाले चेतन पदार्थ जीव त्रस आदिक, मनुष्य आदिक पशु-पक्षी, ये स्वयं कषायसे भरे हुए हैं। इनके स्वार्थमें जहाँ धक्का लगा तहाँ ही आपके मुख मोड़ लेंगे। कोई भी हो, स्वरूपको कहाँ टाला जा सकता है? जो पुत्र, मित्र आपको बहुत अधिक प्रिय लग रहे हैं उनके स्वार्थमें कुछ धक्का तो लगे, फिर देखो आपसे वात्सल्य रखते हैं कि नहीं। नहीं वात्सल्य रख सकते हैं। तो यह समस्त व्यवहार कषायसे कषाय मिलनेका है। यहाँ कोई किसीसे प्रीति नहीं करता। कोई भी हो। भगवान है वह तो प्रीति रंच भी नहीं करता है। और भक्त है सो व्यवहार भाषामें ऐसा कहा जाता है कि भक्त भगवानसे प्रीति करता है। पर वास्तवमें भक्त अपने ही मंद कषायसे जो स्वयं भक्तमें होने वाली वेदना है, परमात्मस्वरूपके स्मरणका जो अनुराग है उसको दूर करनेकेलिए उस पीड़ाको

शांत करनेके लिए चेष्टा करता है। और वास्तवमें अनुराग करता है तो अपने गुणोंके विकासमें अनुराग करता है।

परमार्थजुगुप्सा महान् अपराध□अपने आपकी प्रभुताके स्वरूपसे प्रतिकूल रहना यह सबसे बड़ा दोष है। यही परमार्थसे जुगुप्सा है। धर्मस्वरूपमय निजपरमात्मतत्वसे ग्लानि करना, मुख मोड़े रहना यह महान् अपराध है और केवल अपने आपके प्रभु पर अन्याय करने मात्रका ही अपराध नहीं है, किन्तु जगतके समस्त जीवोंपर सर्व प्रभुवोंपर यह अन्याय है, अपने आपके स्वरूपका पता न हो सके, यही निज प्रभुपर अन्याय है, अनन्त प्रभुवोंपर अन्याय है। सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने आपके स्वभावसे विमुख नहीं होता, अपने स्वरूपसे जुगुप्सा नहीं रखता, किन्तु रुचि रखता है। इस धर्ममय आत्मप्रभुकी सेवामें रहकर कोई कष्ट भी भोगना पड़े, उपद्रव उपसर्ग भी सहना पड़े तो भी उनमें विषाद नहीं मानता, अपने परिणामोंको म्लान नहीं करता, ग्लान नहीं होता। यही है परमार्थसे निर्विचिकित्सक अंगका दर्शन।

परमार्थनिर्विचिकित्सित अङ्गकी मूर्तियाँ□गजकुमार, सुकुमार, सुकौशल और और भी अनेक मुनिराज, पांडव, सनत्कुमार, चक्री, अभिनन्दन आदि चतुर्थकालमें कितने ही विरक्त मुनिराज ऐसे हुए हैं जिनपर घोर संकट आया था। स्यालनी आदि पैरोंका भक्षण कर रहे थे। तो क्या उनसे थोड़ा फुंकार भी नहीं देते बनता था? अरे उन स्यालस्यालिनियोंको अगर तेज आँखोंसे देख लेते तो कभी के भाग जाते। क्या उनके हटाने में बड़े बल की जरूरत थी? किन्तु उन सुकुमार मुनिराजने अपने आपमें जो निर्विकल्प परमात्मस्वरूप का दर्शन पाया था उस परमात्म प्रभुके मिलनेमें, उस परमात्म प्रभुकी उपासनामें इतने रुचिया थे कि जिस रुचिको भंग करनेके लिए उन्हें स्यालनी हटानेका विकल्प भी नहीं आया। वे थे परमार्थसे निर्विचिकित्साकी मूर्ति, जो धर्म स्वभावमय, अपने आपके प्रभुकी उपासना से रंच भी विचलित नहीं हुए। बड़े-बड़े बलि शूर, वीर, सुभट मुनिराज जो हजारों सैनिकोंका मुकाबला करनेमें लीलामात्रसे सफल हो जाते थे, अब जब विरक्त होकर इस परमात्म स्वभावकी साधनामें लगे तब उन्हें इस प्रभुस्वरूपसे इतनी महती रुचि जगी कि इसमें भंग करना उन्हें सुहाया नहीं। चाहे शरीर जले, गले, कटे मिटे, छिदे-भिदे, जहाँ चाहे तहाँ जावे, पर अपने आनन्दको, अपने प्रभुस्वरूपकी उपासनाको छोड़ने का उन्हें भाव नहीं जगा।

वर्तमान विकल्प बनाकर भविष्यमें निर्विकल्पताकी आशा व्यर्थ□यहाँ सामायिक करते हुएमें एक चींटी ऊपर चढ़ी हो, चाहे वह काट न रही हो, केवल बैठी हो या जरा चलती हो तो इतना भी कितने ही भाई सहन नहीं कर पाते हैं और उसको अलग हटाते हैं और ऐसी मुद्रा बनाते हैं इसके हट जानेके बाद फिर बढ़िया ढंगसे सामायिकमें मस्त हो जायेंगे। अरे जब पहिले ही ग्रासमें मक्खी गिर गई तो अब भोजनका क्या ठिकाना? जब इस पहिले ही अवसरमें चींटीके चढ़नेके उपद्रवको नहीं सह सकते, विकल्पोंका उपादान रखा तो अब आगे निर्विकल्पता क्या भरोसा? सम्यग्दृष्टि जीव अपने इस शुद्ध ज्ञानस्वरूप की रुचिमें इतना दृढ़ है कि वह इसकी साधनाके समक्ष

अन्य सब बातोंको अत्यन्त असार और हेय समझता है। ऐसे निर्विचिकित्सक अंगके साक्षात् मूर्ति मुनिराज ज्ञानी संत हैं। वे ज्ञानी संत न तो क्षुधा, तृष्णा आदि वेदनामें विशाद मानेंगे, न अपनेको ग्लान करेंगे और न बाहरी पदार्थ हड्डी मांस, मल-मूत्र आदि गंदे पदार्थोंको देखकर वे उनसे द्वेष करेंगे। ग्लानि न करेंगे। अब भी देखा जाता है कि जो विवेकी, धीर, उदार, विरक्त आत्मतत्वके रुचिया श्रावकजन होते हैं वे भी व्यवहारके अपवित्र पदार्थोंको देखकर नाक, भौंह सिकोड़ने की आदत नहीं रखते हैं।

वास्तविक अपवित्रताका स्थान—इस जगतमें अपवित्र पदार्थ है क्या? किसे कहते हैं अपवित्र पदार्थ, युक्तिपूर्वक निरखिये। नालियोंमें जो गंदगी बहती है उसे अपवित्र कहते हैं क्या? भला बतलावो कि जो अपवित्र कहे जाने वाले स्कंध हैं उनमें अपवित्रता आयी कहाँ से? मल-मूत्र बहता होगा अथवा कुछ कीड़े-मकोड़े आदि जानवरोंका विध्वंस हुआ होगा। इन सारी बातोंको जो मिश्रण है वही तो नालियाँ हैं, अर्थात् शरीरके सम्बन्ध वाली चीजोंका वह समूह है। तो शरीर गंदा हुआ। जिस शरीरके मांस, मज्जा, मल, मूत्र, हड्डी, चर्बी आदि अपवित्र माने जाते हैं वह शरीर ही अपवित्र है। अब और विचारिये कि यह शरीर क्यों अपवित्र हो गया? जिन परमाणुवोंसे यह शरीर बना वे परमाणु जब तक शरीररूप नहीं बने थे तब तक लोकमें बड़े शुद्ध स्वच्छ थे। जब तक शरीररूप परमाणु न बने थे तब तक उन आहारवर्णणावोंके परमाणुवोंका क्या स्वरूप था? क्या हड्डी, मांस आदिरूप ही थे, जिनसे अब हम ग्लानि किया करते हैं? नहीं थे। जीवका सम्बन्ध हुआ, शरीरकी रचनाएँ हुईं और उस शरीरमें ऐसी गंदी, अपवित्र मांस आदिक धातुवें उत्पन्न हुईं तो शरीर का जो मूल आधार है, स्कंध है, परमाणु पुञ्ज है, औदारिक वर्गणायें आहार वर्गणायें ये तो बड़ी अच्छी थीं, पवित्र थीं। पवित्र होनेपर कोई अपवित्रका सम्बन्ध हो जाय तो अपवित्र बना करता है। शुद्ध नहाये-धोये लड़के को नालीसे भिड़ा हुआ लड़का छू ले तो वह नहाया धोया लड़का अपवित्र माना जाता है। अन्य पवित्र बालकोंको एक गंदे बालकने स्पर्श कर लिया ना, तो ये जो आहारवर्गणायें लोकमें बड़ी अच्छी बिराज रही थीं उनको इस मोही जीवने छू लिया, ग्रहण कर लिया, छू तो नहीं सकता, ग्रहण तो नहीं कर सकता, पर ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि ऐसे मोही मलिन जीवोंका प्रसंग होनेसे यही वर्गणाएँ शरीररूप परिणम कर बुरी हो जाया करती हैं। तब शरीरके परमाणुवोंको जिसने छूकर गंदा बनाया है वह गंदा हुआ या शरीर गंदा है। वह मोही जीव गंदा हुआ।

जीव पदार्थमें अपवित्र भाव—अब उस मोही जीवकी भी चर्चा सुनो, वह जो जीव है, द्रव्य है, एक चेतन पदार्थ है, वे द्रव्य तो सब एक चेतन समान हें, केवल ज्ञायकस्वरूप है, चैतन्यस्वभावरूप हैं। उनके स्वभावमें कहाँ गंदगी बसी है? ये जीवद्रव्य भी अपने स्वभावसे मलिन नहीं है। पर इस जीवका जो विकारपरिणमन हुआ है, रागद्वेष मोह भाव जगा है यही अपवित्र परिणमन है। तो लोकमें सारी अपवित्र चीजोंके कारणको विचारा जाय तो अंतमें मिलेगा सबसे अधिक अपवित्र तो रागद्वेष मोह मिलेगा। इन तीनोंमें रागद्वेष तो एक शाखाकी तरह है और मोह उनकी जड़ है। इन

तीनोंमें भी अधिक अपवित्र क्या है? अपेक्षाकृत बात देखो लोग द्वेषसे बड़ी घृणा करते हैं। कोई जीव द्वेषी है, बैर रखता है, लड़ाई झगड़ा करता है, द्वेष दिखाता है तो उसके द्वेषसे लोगोंको बड़ी नफरत होती है। कैसा बेढ़ंगा आदमी है, द्वेष ही द्वेष करता है। द्वेषभावको लोग बुरी दृष्टिसे देखते हें, किन्तु यह तो बतलावो कि यह द्वेष क्या द्वेषके लिए ही आया है? द्वेषका प्रयोजन क्या द्वेष करना है? नहीं। द्वेष किसी रागके कारण आया है। द्वेषका प्रयोजन किसी रागका पोषण है। किसी बातमें राग आये बिना परसे द्वेषकी उत्पत्ति नहीं हुआ करती है। जो मनुष्य बैठे ही ढाढ़ो प्रकृत्या किसी भी धर्मात्मा जीवसे द्वेष और ईर्ष्याका परिणाम बनाते हैं और अपने आपमें जलते भुनते हैं, अपनी परिणतिका राग, अपने आपकी पर्यायको आपा मानकर, उसके बड़प्पन रखनेका पनिणामरूप जो राग है उस रागकी प्रेरणासे वह धर्मात्माजनोंसे भी द्वेष रखता है। तब द्वेषसे अधिक गंदा राग हुआ ना।

रागका मूल मोहअब रागकी भी बात देखिये इस जीवको खामोखां राग हो क्यों गया? जब कोई वस्तु अपनी नहीं है, किसी परपदार्थसे अपना हित नहीं है तो यह रागभव जग क्यों गया? इस रागभावके जगनेका कारण है मोहभाव। इसे अज्ञान है, स्व और परका विवेक नहीं है, भिन्न-भिन्न स्वरूपास्तित्वकी निरख नहीं है। वह जानता है कि किसी पदार्थसे किसी दूसरे पदार्थका कुछ काम होता है, बनता है। मैं किसी दूसरेका कुछ भी कर सकता हूँ, कोई दूसरा मुझे कुछ भी कर सकता है। निमित्तनैमित्तिक भावपूर्वक अपने आपके चतुष्टयमें परिणमन होते रहनेकी बात इसके उपयोगमें नहीं है। कर्तृत्व बृद्धि और स्वामित्व बुद्धि समाई हुई है। इस कारण यह जीव परसे राग करता है। तो उस राग भावका कारण है अज्ञानभाव, मोहभाव। इस मोहभावके वश होकर जो जीव सहज ज्ञाना नन्द निधान निज परमात्मास्वरूपकी रुचि नहीं करता, उससे अरुचि रखना, विमुख रहता, वही है परमार्थसे विचिकित्सक प्राणी।

निर्विचिकित्सित अङ्गकी मूर्ति जयवंत होजो महान् आत्मा प्रत्येक परिस्थितियों में अपने आपके प्रभुस्वरूपकी रुचिमें दृढ़ रहता है इस धर्मस्वभावमय आत्मतत्वकी उपासना में इतना रुचिवान है कि उपद्रव उपसर्ग कुछ भी आए तो भी विषाद नहीं करता, खेद नहीं मानता वही है परमार्थसे निर्विचिकित्सा अंगका दर्शन। जैसे माँ अपने बच्चेमें रुचि रखती है तो बच्चेके नाक निकले, मल-मूत्र निकले तो भी उस स्थितिमें विषाद नहीं मानती। जैसे कि और माँ किसी दूसरे पुत्रसे ऐसी बात हो जाय उसके शरीरपर, कपड़ोंपर, तो वह खेद मानती है, झल्ला जाती है। इस माँको झुलझुलाहट नहीं होती है, खेद नहीं होता है, इसी प्रकार अन्य धर्मात्माजनोंकी सेवामें रहते हुए ऐसी ही बात आए तो वह धर्मात्मा पुरुष खेद नहीं मानता और चैतन्यस्वभाव धर्ममय अपने आत्मतत्वकी उपसनामें रहते हुए क्षुधा, तृषा, निन्दा, दरिद्रता कुछ भी बातें उपस्थित हों, तो उन परिस्थितियोंमें खेद नहीं मानता, विशाद नहीं मानता। अपनी रुचिकी धुनमें ही बना रहता है। ऐसे निर्विचिकित्सक अंगकी मूर्तिरूप ये ज्ञायकस्वभावी जयवंत हों और इनके उपासनाके लिए ऐसा बल प्रकट हो कि

हम धर्मात्मा पुरुषोंकी सेवामें रहते हुए खेद, विषाद, थकान न मानें और उनके रत्नत्रय गुण स्वरूपकी महिमामें हमारा उपयोग बना रहे। भैया! दोष ग्रहण करना, घृणा करना, ग्लानि करना, विमुख रहना, ईर्ष्या करना, इन दोषोंसे इन विपत्तियोंसे दूर बना रहूँ, ऐस यत्न करना, सो मोक्षमार्गका इस निर्विचिकित्सक अंगमें एक महान् पुरुषार्थ है।

अब अमूढदृष्टि अंगका वर्णन करते हैं

जो हवइ असंमूढो चेदा सद्दिट्ठी सव्वभावेसु।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३२ ॥

अमूढदृष्टिका स्वरूप—जो जीव सर्वभावोंमें अमूढ़ है, समीचीन दृष्टि रखता है वह ज्ञानी पुरुष निश्चयसे अमूढ़दृष्टि सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। आत्माका जो सहज अपने आपके सत्वके रससे जो परिणाम है उस असाधारण भावके अतिरिक्त अन्य जो भी भाव हैं उनमें जो मुग्ध नहीं होता अर्थात् उन्हें आत्मरूपसे नहीं अपनाता उसे अमूढ़दृष्टि समझना चाहिए। मै। क्या हूँ, इसके उत्तरमें जिसकी दृष्टि अनादि अनन्त ध्रुव ज्ञायकस्वभावपर पहुँचती है और उस ध्रुव पारिणामिक भावसे भिन्न जो अन्य भाव हैं उन भावोंमें आत्मरूपसे श्रद्धान नहीं होता है उसे अमूढ़दृष्टि कहते हैं। यह जीव बाहरी पदार्थोंको अपना मानता हे, यह व्यवहार कथन है। उन्हें नहीं मानता है, किन्तु जिस प्रकारका ज्ञान बना, ज्ञेयाकार परिणमन हुआ ऐसी परिणतिमय अपने आपको जानता है। अन्य पदार्थोंका जानना व्यवहारसे कहलाता है। अर्थात् अन्य पदार्थोंमें यह जीव तन्मय नहीं हो सकता है। यद्यपि अज्ञानी जीवके लिए यह कहा जाता है कि यह किसी अन्य पदार्थसे तन्मय हो रहा है, फिर भी वास्तवमें वह अज्ञानी भी किसी परपदार्थमें नन्मय नहीं हो सकता। वह तो जिस प्रकारकी रचना अपने आपमें बना रहा है उसमें ही तन्मय है।

मूढदृष्टिके लक्ष्यस्थान—यह जीव किसे अपना मानता है? शरीरको आपा रूपसे श्रद्धान करता है। यह शरीर निज सहज चैतन्यभावसे अत्यन्त विपरीत है। और इससे गहरे उतरेंतो आगमसे जैसा जाना है उस प्रकारसे रचे हुए ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्मोंको आपा मानता है। अथवा उन द्रव्यकर्मोंके विपाकमें होने वाली जो आत्मभूमिमें परिणति है उसे 'यह मैं हूँ' ऐसा मानता है। तब कषाय करते हुएमें विषय कषाय करते हुए 'यह यही तो मैं हूँ' ऐसा अभेद श्रद्धान करता है, रागादिक भावोंसे भिन्न मैं कुछ हूँ, ऐसी दृष्टि नहीं पहुँचती है, न उसे निज ध्रुव पारिणामिक भावोंसे भिन्न रागादिक भावोंको आत्मस्वरूप मानता है वह मूढ़दृष्टि है। उसे अन्य भावोंमें मोह हो गया है। अन्य भावोंको आत्मरूपसे ग्रहण करता है, और अन्तरमें चलें तो क्षयोपशमिक विकल्प हो रहे हैं, छुटपुट ज्ञान हो रहे हैं, उन्हें यह जीव आत्मस्वरूप मानता है।

ज्ञानविकल्पोंमें मूढदृष्टिता—क्षायोपशमिक ज्ञान-विकल्पोंको आत्मस्वरूप मानता है, इसका प्रमाण यह है कि किसी जानकारीके समयमें जब परस्पर कोई विवाद हो जाता है तो अपना पक्ष गिरनेपर वह अपनी बड़ी हानि अनुभव करता है, और ऐसी स्थितिमें अपनेमें क्रोध मानकर लेता

है। वह अपनेको बरबादसा अनुभवने लगता है। यह है क्षायोपशमिक विकल्पोंमें आत्मस्वरूप माननेका फल। उस जीवने निज स्वभावसे भिन्न ज्ञानादिक क्षायोपशमिक विकल्पोंमें आपा स्वीकार किया है। अभी इसके अन्य भावोंमें मोह है।

शुद्ध परिणमनमें भी आत्मद्रव्यत्वकी अमुग्धता—इससे और अन्तरमें चलते हैं तो परिपूर्ण ज्ञान, परिपूर्ण विकास, शुद्ध परिणति, केवलज्ञान जैसे कि बांचा है, सुना है, जाना है। उसके महत्वको जानकर उस परिणतिके अपना उपयोग विकल्प बनाकर ऐसा ही मैं होऊँ, यह ही मैं हूँ, यद्यपि विकासकी बात ठीक है, किन्तु जिसे निज ज्ञायकस्वरूपका परिचय नहीं है, वह केवलज्ञान आदिक शुद्ध भावोंके पानेका भी विकल्प बनाए तो उसकेलिए तो वह परिणाम जैसा है किसी अन्यके प्रति परिणाम करता हो। वे केवल ज्ञानादिक पर्यायें मेरी परिणति है, मेरेसे प्रकट होती है, वह क्षण-क्षणका निरन्तर अनन्तकाल तक सद्दश चलने वाला परिणमन है, मैं एक ध्रुव ज्ञायकस्वरूप हूँ, ऐसा जिसे बोध नहीं है वह पुरुष उनमें उपयोग लगाए और उपयोग लगाते समय वह अपनेको वैसा ही अनुभव करे जैसा आत्मरूप अनुभव करता है। और आत्मद्रव्यरूप अनुभव करना सो ज्ञायकस्वरूपसे अपरिचित पुरुषका एक काम है। एक टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायकस्वभावमय परमपारिणमिक भावरूप निज चैतन्यस्वभावके अतिरिक्त अन्य भावोंमें आत्मरूप श्रद्धान करना, यही ही मैं समग्र आत्मद्रव्य हूँ, सो वे सब मोहकी जातियाँ हैं।

अमूढदृष्टिका ज्ञातृत्व—यह जीव सर्व भावोंमें असम्मूढ़ है, यथार्थ दृष्टि रखता है, उस ही पुरुषको सम्यग्दृष्टि जानो। सम्यग्दृष्टि सर्व पदार्थोंका यथार्थस्वरूप जानता है, उसके रागद्वेष मोहका परिणाम नहीं है, अतः अयथार्थ दृष्टि नहीं है। चारित्र मोहके उदयसे इष्ट-अनिष्ट भाव उत्पन्न होते हैं, उनकी उदयकी बलवती जानकर उन भावोंका कर्ता नहीं होता है। उन रूप अपने आपका श्रद्धान नहीं करता है। विशेष विह्वलता होनेके कारण परभावोंमें आत्मस्वरूपका अनुभव करता है। जिस पदार्थविषयक राग है उस रागके अनुकूल पदार्थका परिणमन न देखकर अपने आपमें खेद करने लगता है। विशेष विह्वलता इस कारण होती है कि उस रागपरिणमनमें ही आपके स्वरूपका श्रद्धान है। यदि उस काल में इस रागस्वरूपमें आपाका श्रद्धान न हो तो वहाँ विह्वलता न हो सके। अपने आपके विनाशकी शंका सर्व शंकाओंका मूल बनती है। और प्रधान शंका यही कहलाती है, ऐसी शंका, ऐसा व्यामोह सम्यग्दृष्टि पुरुषके नहीं होता है।

शुद्धात्मभावनासे अमूढ़ता एवं कापथमें अनास्था—जो ज्ञानी निज शुद्ध आत्मामें श्रद्धान, ज्ञान और अनुचरणके रूपसे अर्थात् निश्चय रत्नत्रयकी भावनाके बलसे शुभ-अशुभ कर्मजनित परिणामोंमें मुग्ध नहीं होता है उसे अमूढ़दृष्टि जानना। अपने ध्रुव पारिणामिक ज्ञानस्वभावसे भिन्न किसी भी परपदार्थमें मुग्ध न होना चाहिए। परिणतियोंका व्यामोह क्षोभका स्थान है, वह ज्ञानी जीव निश्चयकरि सम्यग्दृष्टि है। जिसको अध्रुव औपाधिक परभावोंमें ही जो कि जीवके स्वतत्व है अर्थात् आत्मामें परिणत होते हैं उनसे भी मोह न रखता हो वह सम्यग्दृष्टि पुरुष किन्हीं बाह्यपदार्थोंमें कैसे

मोह रख सकता है? जिनके उपयोगमें ऐसे स्वभावकी दृढ़ता है वे कदाचित् कुदेव, कुशास्त्र, कुगरु, कुधर्म-इनमें कोई चमत्कार भी देखे तो वह उनमें व्यामोह नहीं करता है और उन चमत्कारोंके कारण उन कुपथोंको यह सम्यक् सोच ले ऐसी प्रवृत्ति सम्यग्दृष्टिमें नहीं होती है। एक दृष्टान्त दिया गया है पुराणोंमें रेवती नामक रानीका। एक मुनिराजनेरेवती रानीके अमूढ़दृष्टि अंगका वर्णन किया, प्रशंसाकी। तो सुनते हैं कि अभव्यसेन मुनि हो, या कोई हो, उसको यह जिज्ञासा हुई कि देखें तो सही कि कैसा सका दृढ़ श्रद्धान है, या किसी देवने परीक्षा की हो। ब्रह्मा का रूप रखकर बड़ा चमत्कार बताया। सारी दुनिया उसकी ओर झुके, पर रेवती रानीका चित्त न डगा। और-और देवतावोंने जैसा उन पुराणोंमें वर्णन है, अपना आडम्बर दिखा बड़ी ऋद्धि-सिद्धि दिखाई पर उस रेवती रानीका चित्त न डिगा। अंतमें एक तीर्थकर जैसा कोई आडम्बर दिखाया, रचना वैसा ही बनाया, वैसा ही सब किया जितना तक हो सकता था। लोगोंने कह कि अब तो तीर्थंकर महाराज आए हैं, अब तो वंदनाको चलना चाहिए। उस रेवती रानीका दृढ़ श्रद्धान था कि इस कालमें तीर्थंकर होता ही नहीं है। चौबीस तीर्थंकर माने गए हें, ये २५वें तीर्थंकर कहाँसे हो गए? कुछ ऐसी ही कथा है। जिसमें यह दिखावा है कि बड़े-बड़े चमत्कारोंके दिखाने जानेपर भी जिसका चित्त चलित नहीं होता है, श्रद्धासे विचलित नहीं होता है उस ही आत्माको अमूढ़दृष्टि कहते हैं।

विभावरूप स्वतत्वमें भी ज्ञानीके असम्मोहइस सम्यग् दृष्टिके निज भूमिकामें उत्पन्न होने वाले पर-भावोंमें भी मोह नहीं जगता। लोकमें सबसे बड़ा वैभव है शुद्ध ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि जगना। जितने भी जैनसिद्धान्तके उपदेश हैं उनका मात्र प्रयोजन शुद्ध ज्ञानस्वभावकी दृष्टि जगना। जितने भी जैनसिद्धान्तके उपदेश हैं उनका मात्र प्रयोजन शुद्ध ज्ञानस्वभावकी दृष्टि कराना है। तुम तो चैतन्यस्वरूप मात्र हो। निश्चयनयसे स्वचरूपका वर्णन है कि अपने आपको ही करते हो, अपने आपको ही भोगते हो। तुम्हारा तुम्हारेसे अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थमें रंच भी सम्बन्ध नहीं है। तुम्हारा चतुष्टम तुम ही में है। अन्य वस्तुवोंमें चतुष्टय उन अन्यमें ही है। ऐसा दिखाकर इस जिज्ञासु मुमुक्षुको एकत्वस्वरूप में उपयुक्त कराया गया है। इसे किसी परका विकल्प न उठे और यह अपने शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका अनुभव करले, इसके लिए निश्चयनयसे ज्ञायकस्वभाव इसे पहिचानवाया गया है। जहाँ विज्ञान और व्यवहार दृष्टिमें उपदेश चलता है कि यह जीव तो शुद्ध ज्ञायकस्वभावमय है। इसमें स्वरसतः रागादिक होते ही नहीं हैं। उसका रागादिक स्वभाव ही नहीं है। इसमें जो रागादिककी झलक होती है वह कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर होती है। जिसका उदय होनेपर हो और उदय न होने पर न हो, इन रागादिक भावोंका उससे ही अन्वयव्यतिरेक है। इन रागादिकोंका आत्मासे अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है। आत्माके होनेपर रागादिकसे हों तो आत्मा तो सतत है, फिर कभी रागादिकसे मुक्त नहीं हो सकता है। ये औपाधिक भाव हैं, परभाव हैं, तेरा स्वरूप नहीं हैं। तू तो सबसे निराला शुद्ध ज्ञायकस्वभावी है। इस ज्ञायकस्वभावी की दृष्टि करानेकेलिए ही व्यवहारका भी प्रयोजन है।

स्वानुभवका मात्र एक कर्तव्यभैया! अपना यह एक ही कर्तव्य है जिस किसी भी उपायसे हम अपने आपको ज्ञानस्वरूपमात्र अनुभव कर सकें। स्वानुभवकी शास्त्रोंमें बड़ी महिमा गाई है। उस स्वानुभवके होनेकी पद्धति है स्वका अनुभव होना। अनुभवका अर्थ जानना। जाननेसे और भी अन्तरमें चलें तो कहिए मानना। जानने और माननेकी कलामें भी तो द्वैतभाव रह जाता है मैं इसे जानता हूँ, मैं इसे मानता हूँ, जब माननेकी स्थिति और गहरी बन जाती है, अर्थात् जहाँ यह द्वैत भी नहीं रहता है उस स्थितिको कहते हैं अनुभवना। स्वका अनुभवना क्या है? स्वका जानना ही तो स्वका अनुभवना है। दृढ़तासे निश्चलतासे अभेद विधिसे जाननेका नाम अनुभवना है। स्वका अनुभवना, स्वको किस प्रकार जानें तो बन सकता है। इस निज आत्मतत्वको क्या विविध संसारी पर्यायरूप देखते रहें तो स्वका अनुभव हो सकेगा? क्या उस जाननके साथ इस ज्ञाताके अभेद अनुभवन बन सकेंगे? अथवा उन व्यञ्जन पर्यायोंको भी छोड़िये, विभाव गुण पर्यायोंरूप अपने आपको जानेंतो क्य उनसे स्वका अनुभव हो सकेगा? अथवा भेदवृत्तिसे जिसने स्वभावपर्यायको भी जाना तो क्या वहाँ स्वके अनुभवकी स्थिति हो सकेगी?

सहजज्ञाननुभूतिमें स्वानुभूतिस्वको किस प्रकार जानें कि निजका अनुभव हो सके? अब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें से पिंडरूप द्रव्य विस्तार रूप, क्षेत्र और परिणतिरूप काल इन तीनोंकी अपेक्षा न रखकर अर्थात् इनका आश्रय न लेकर अभेदमें चलना। हैं तो वे सही, पर उनका आश्रय लेकर अर्थात् उन-उन रूप अपने आत्माको निरखनेपर इस ज्ञाताको अभेद वृत्ति नहीं होती है। उस चतुष्टयमें से जीवद्रव्यकेलिए भावोंका बड़ा प्रधान स्थान है। वे भाव भेदरूप और अभेदरूप दो प्रकारसे निरखे जाते हैं। भेदरूप भावमें तो शक्तिया और गुणदृष्टिमें आते हैं। सो उन शक्तियोंमें से किसी भी शक्तिरूप किसी भी गुण रूपसे आत्मामें निरखनेपर चूँकि भेदवृत्तिसे गुणोंको देख रहा है तो वहाँ जानने वाला यह और जाननेमें आया हुआ यह, यों द्वैत दिखा ना, इस प्रकार अंशअंशीका भेद रहता है। जिस कालमें इससे भी और अन्तरमें उतरकर सर्वगुणोंका प्रतिनिधिस्वरूप असाधारण रूप जो ज्ञायकस्वभाव है, चैतन्यस्वभाव है जिसका कि परिणमन ज्ञातृत्व है, वह ज्ञाता अपने ज्ञातृत्व परिणमनके स्रोतत्व ज्ञानस्वभावके जाननेमें लग जाय तो इस पद्धतिमें जो जानने वाला है वही ज्ञेय बन जाता है और इस ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेयकी अभेदानुभूतिमें इसके स्वानुभव जगता है। इसे सीधे शब्दोंमें यों कहना चाहिए कि जो सहज ज्ञानकी अनुभूति है वही आत्माकी अनुभूति है।

स्वरूप परिचय बिना मनचाही कल्पनाजब तक निज ज्ञायकस्वरूपका परिचय और अनुभव नहीं होता है तब तक यह जीव भिन्न-भिन्न प्रकारके परभावोंमें आत्मरूपका श्रद्धान करता है यह मैं हूँ। जिसकी समझमें जो अपने निकटमें आया उसे ही आपारूप मानने लगता है। इस पिंडके अन्तरमें अमूर्त चैतन्यस्वभावमात्र चेतनपदार्थ है ऐसा जगतके प्राणियोंको पता नहीं है। जिन्हें पता है उन्हें अंतरात्मा कहते हैं। निजस्वभावका परिचय न होनेसे पद-पदमें छोटी-छोटी घटनावोंमें भी यह जीव अपने आपका विश्वास पर्यायमें है, इस मुद्रासे बात करता है। लो यह मैं आया, अजी

इसे मैं कर दूंगा, आप क्यों तकलीफ करते हैं? यह तो सब मेरी लीलामात्रमें हो जायगा। अपनी विभावरूप परिणतियोंमें, कलावोंमें अहंकार, कर्तृत्व, मोह ये सब बना रहे हैं।

अमूढ़ दृष्टित्वका प्रतापयह सम्यग्दृष्टि जीव एक निज टंकोत्कीर्णवत् निश्चल स्वतःसिद्ध, अनादि सिद्ध अविनाशी ज्ञानस्वभावमें ही अपने आपका श्रद्धान करता है और इसके अतिरिक्त अन्य जितने भी भाव हैं वे चाहे स्वमें अनुभवरूप हों, अन्य क्षेत्रमें अन्य रूप हों उन सबमें आपका श्रद्धान नहीं करता वह पुरुष अमूढ़दृष्टि जानना चाहिए। ऐसे पावन आत्माके बाह्य विषयोंमें मूढ़ता होने रूप भाव कृतबँध नहीं होता है। अथवा पर समयोंमें मूढ़ताकृत बँध नहीं होता है, अथवा संवरका निधान जो संवर स्वरूप है, सुरक्षित है दुढ़ दुर्ग है उसके उपयोगमें स्थित है। यह आत्मद्रव्य स्वयं संवर स्वरूप है। इसमें किसी दूसरेका प्रवेश नहीं है। इस बातका इस ज्ञायकस्वभावका जब परिचय होता है तो बाह्य सम्बन्धों में भी वह सम्वृत ही रहता है। इस संवर तत्वका वहाँ विलाश होनेसे परिणामोंमें इतनी निष्पृहता, स्वोन्मुखता और परपराङ्मुखता है कि पूर्वबद्ध कर्मोंकी वहाँ निर्जरा ही होती है।

अमूढ़दृष्टिकी मोक्षमार्गमें प्रगतिइस तरह यह अमूढ़दृष्टि अंगका धारी सम्यग्दृष्टि न तो किन्हीं कुदेव, कुगुरुवोंमें मुग्ध होता है, न उनके किसी चमत्कारमें मुग्ध होता है, न अन्य बाह्य विषयोंमें मुग्ध होता है और न अपनेमें उत्पन्न हुए रागादिक परिणामोंमें मुग्ध होता है। वह तो निरन्तर आनन्द झराने वाले शुद्ध चैतन्यस्वभावमें ही अपने आपका श्रद्धान करता है। ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव अमूढ़दृष्टि है। मोक्षके मार्गमें उसके निरन्तर तीव्र प्रगति होती रहती है।

मूढ़ताका द्वैविध्यअमूढ़दृष्टि अंगमें जो यथार्थ है उसे यथार्थ भान किया जाता है। अयथार्थको यथार्थ मानना मूढ़ता है, इसी प्रकार यथार्थको अयथार्थ मानना मूढ़ता है। जो वस्तुका वास्तविक स्वरूप है उसको मिथ्या समझना भी मूढ़ता है। चैतन्यस्वभावके अतिरिक्त अन्य भावोंमें 'यह मैं हूँ' इस प्रकारकी बुद्धि होना भी मूढ़ता है। यद्यपि रागादिक भावोंक कर्ता आत्माको शुद्ध निश्चयनयसे बताया है, किन्तु वहाँ जीवके स्वरसतः स्वभावसे रागादिक भावोंको जीव करता है ऐसी दृष्टि नहीं है, पर इस कर्तृत्ववादीकी जो कि रागादिकको करने वाला आत्माको कहते हें वे स्वभावसे करने वाला मानते हैं, ओर इनकी दृष्टि में रागादिक कभी छूट नहीं सकते। रागादिककामंद हो जाना इनके मंतव्यमें बैकुण्ठ है, मोक्ष है, और इसी कारण जब उस उपशांत रागादिक भावोंकी व्यक्ति होती है तब उसे बैकुण्ठसे आना पड़ता है, फिर संसारमें जन्ममरण लेता है। इस कर्तृत्ववादीकी दृष्टिमें आत्मा कदाचित् सर्वथा सर्वदाके लिए रागरहित हो सकता है, यह दृष्टिमें नहीं है, यह यथार्थको अयथार्थ मानता है और अवास्तविकको वास्तविक माना है, किन्तु ऐसी मूढ़ता जिन अन्तर आत्मावोंमें नहीं है वे अंतरात्मा अपनेको शुद्ध केवल ज्ञायकस्वरूप ही अनुभवते हैं।

नयचक्रकी गहनताभैया! नयवादोंका प्रकरण बहुत गहन है। इस नयचक्रके गहन बनमें उलझे हुए मंतव्य कभी अपने सम्मानकी ओर नहीं आ पाते। जीवमें परिणतियाँ होती है, और

किन्हींका मंतव्य है कि जीवमें परिणतियाँ नहीं भी होती हैं। ये दो पक्ष सामने हैं, और दृष्टिभेदसे ये दोनों पक्ष सही हैं। जीवमें परिणतियाँ होती हैं यह देखा जाता है स्वभावसे दूर दृष्टि रखनेपर, और जीवमें परिणतियाँ होती ही नहीं हैं यह देखा जाता है जीवको स्वभावमें लक्ष्यमें लेनेपर। इन रागादिकोंका करने वाला जीव है तो एक पक्षमें रागादिकोंका करने वाला जीव नहीं है। जीव रागादिकोंका कर्ता है यह परिज्ञान अद्वैत दृष्टिसे होता है। यह अद्वैत वस्तुको देखते हुए और उसके परिणमनको निरखते हुए में जब यह प्रश्न उठता है कि इन रागादिकोंका कर्ता कौन है, जब उसे अन्य वस्तु द्रष्ट नहीं देती है तब अभेद षट्कारके प्रयोगसे रागादिकका कर्ता जीवको बताता है, और जब जीव के सुरक्षित स्वभावमें कुछ भंग न डालने का आशय है और रागादिकका कर्ता बताना है तब निमित्तदृष्टिको प्रधान करके उत्तर आता है कि रागादिकोंके करने वाले कर्म हैं।

पर्यायोंके नियतपने व अनयितपनेमें नयविभागये जीवमें रागादिक पर्यायें जब जो होनी होती हें तब ही होती हैं। यह जीवमें नियत है, बद्ध है ऐसा भी परिज्ञान होता है और जीवमें रागादिक पर्यायें नियत नहीं हैं, बद्ध नहीं हैं, अनियत हैं ऐसा भी परिज्ञात होता है।

पर्यायोंमें नियतपनेकी दृष्टिजब काललब्धि और सर्वज्ञज्ञानको दृष्टिमें लेते हैं तब वहाँ यह विदित होता है कि जीवमें अदल-बदल करना, पुरुषार्थ करना, किसी भी प्रकार जो कुछ भावीकालमें होगा जीव करेगा वह सब सर्वज्ञके ज्ञानमें विदित है। अथवा अवधिज्ञानी जीव भी जान जाता है तो उस समय वह होगा इसमें शक नही है। उस ज्ञानकी ओर से देखते हैं तो जगतमें सब कुछ नियत है, ऐसा कालकी दृष्टिसे देखते हैं तो पर्याय नियत है, बद्ध है, पर वस्तुकी ओर से जब देखते हैं जो कि वास्तविक दृष्टि है, उस वस्तुमें तो प्रत्येक समय एक ही पर्याय बद्ध होती है, तन्मय होती है।

पर्यायोंके समुदायमें द्रव्यपनेकी दृष्टिहाँ, इस दृष्टिसे कि चूँकि पदार्थ है तो वह किसी भी समयमें परिणमन बिना नहीं रहता। कोई काल ऐसा नहीं आयगा जिस समयमें वस्तुका परिणमन न रहे। अनन्तकाल है, तो अनन्त समयोंमें अनन्त परिणमन हैं ही इस पदार्थके। कोई सा भी परिणमन बीचमें टूटता नहीं है कि वस्तु परिणमता रहे और किसी मिनट परिणमन बंद कर दे, बादमें फिर परिणमने लगे, ऐसी टूट परिणमनपरम्परामें नहीं है। इस कारण यह कह दिया जाता है कि द्रव्य त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायोंका पिण्ड है। इस कारण पदार्थोंमें वे सब पर्यायें नियत साबित होती हैं, पर इस दृष्टिसे पर्यायोंका नियतपना सिद्ध नहीं होता, किन्तु परिणमनसामान्य कुछ भी हो, परिणमनशून्य द्रव्य नहीं हुआ करता है। सो उन पर्यायोंका समुदाय द्रव्य है यह बात घोषित होती है।

पर्यायोंके अनियतपने व नियतपनेकी दृष्टिपदार्थमें तो प्रत्येक समय एक पर्याय बद्ध है, तन्मय है। उस उपादानमें जितनी योग्यताएँ बसी हैं उन योग्यतावोंमेंसे किसी भी योग्यताके अनुकूल जैसा सहज निमित्तका योग होता है यह उपादान अपनी स्वतंत्रतासे अपनेमें परिणमन करता है। इसमें भावी कालमें अमुक पर्याय होगी, ऐसी बद्धता द्रव्यके अन्दर नहीं है। इस दृष्टिसे पदार्थोंमें

विभावपरिणमन अनियत है। जो शुद्ध आत्मा हुए हैं उनमें अवश्यंभावी अनन्त पर्यायें नियत हैं, और वे नियत इस कारण हैं कि वे शुद्ध आत्मा हो चुके हैं और आगामी कालमें किसी भी समय अशुद्ध नहीं हो सकते हैं कि वे शुद्ध आत्मा हो चुके हैं और आगामी कालमें किसी भी समय अशुद्ध नहीं हो सकते हैं। तो शुद्धका परिणमनका तो एकरूप चलता रहता है सो एक रूप ही चला करता है, अपने आप ही वह नियत शुद्ध हो जाता है। यह नयचक्र बहुत गहन है, इसमें प्रत्येक तत्व स्याद्वादकी दृष्टिसे सुलझता है।

अनुभवकी निर्विकल्पता—हाँ अनुभव अवश्य ऐसा है कि उसमें स्याद्वादका प्रयोग नहीं होता है, क्योंकि अनुभव एक अभेद अवस्था है। वहाँ किसी भी नय-विकल्पका अवकाश नहीं है। और नय-विकल्पका ही अवकाश नहीं है ऐसा नहीं है, किन्तु प्रमाण, निक्षेप और-और भी उपाय जो वस्तुके परिज्ञानके हैं उन सबका भी प्रयोग अनुभवदशामें नहीं होता है।

अमूढ़ सुदृष्टिका प्रताप—भैया ऐसे अलौकिक स्वानुभवको प्राप्त कर चुकने वाला सम्यग्दृष्टि पुरुष किन्हीं पदार्थोंमें कैसे मोहको प्राप्त हो सकता है? जैसे किसी घटनासे पूर्ण परिचित है ऐसा मनुष्य किसी भी वाद सम्वादमें भी च्युत नहीं हो सकता, और जो घटना से अपरिचित हे, किसीकी सिखाई हुई बातें वह बोलता है तो किसी भी प्रकरणमें उसे च्युत कर दिया जा सकता है। यह चैतन्यस्वभावका रुचिया ज्ञानस्वभावसे उत्पन्न हुए आनन्दको भोगने वाला सम्यग्दृष्टि मूढ़दृष्टिकृत बँधको नहीं प्राप्त होता, किन्तु किसी पदार्थमें मोह नहीं है, अज्ञान नहीं है, यथार्थ-यथार्थ ज्ञाता है इस कारण निर्जरा ही होती है। इस प्रकार अमूढ़ दृष्टिका अंगका वर्णन करके उपगूहन अंगका वर्णन करते हैं।

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो हु सव्वधम्माणं।
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३३ ॥

उपगूहन अंगके लक्षणमें यह बात बतलाते हैं कि जो सिद्धभक्ति करके सहित सर्व धर्मोंका उपगहक है उसे उपगूहक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

सिद्ध और सिद्धभक्ति—सिद्ध शब्दसे दो विषयोंमें लक्ष्य पहुँचता है। एक तो जो अष्टकर्मोंसे रहित अनन्त ज्ञानादिक गुणोंकर सहित निर्लेप सिद्ध परमात्मा है वह सिद्ध कहलाता है। और इस आत्माका जो सहज स्वरूप है चूँकि वह असिद्ध नहीं है, परतःसिद्ध नहीं है, किन्तु अपने ही सत्वके कारण परिपूर्ण केवल अंतःप्रकाशमान अनादि अनन्त अविनाशी है वह भी सिद्धस्वरूप कहलाता है। इसके परिणामकी ओर दृष्टि दें तब यह सिद्धस्वरूप लक्ष्यमें नहीं रहता। जो निश्चयसे इस ध्रुव परमपारिणामिक भावमय चैतन्यस्वभाव की भावनारूप वास्तविक सिद्ध भक्तिको करता है वह जीव मिथ्यात्व रागादिक विभाव धर्मो का उपगूहक है, प्रच्छादन करने वाला है, अर्थात् विनाश करनेवाला है, उसे उपगूहक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

व्यवहार उपगूहनका तात्पर्यभैया! उपगूहन अंगका साधारणतया यह अर्थ किया जाता है कि धर्मी पुरुषोंके दोषोंको प्रकट न करना। प्रकट न करना इसका अर्थ यह है कि उनके दोषोंको दूर करना, नष्ट करना। धर्म धारण करने वाला भी कोई किञ्चित् दोषी होता है, पर इसका भाव यह नहीं है कि धर्मीमें दोष हैं तो उन्हें ढके जावो और बने रहने दो और मानते जावो यह उसका भाव नहीं है। उपगूहनका अर्थ है दोषोंका विनाश करने वाला। हाँ उसमें यह कर्तव्य आ जाता है कि जनतामें धर्मात्मावोंके दोषोंको प्रकट न करें, क्योंकि उससे धर्मपर लांक्षन आता है और लोग यह कह सकेंगे कि इस धर्म वाले तो ऐसे दोषी होती हैं। तो इस उपायने उस धर्मात्मा पुरुषके दोषोंको नहीं ढका किन्तु धर्ममें दोष न लग पायें, दुनियाकी दृष्टिमें धर्म दोषयुक्त न कहलाये, इस बातपर यत्न किया है उस सम्यग्दृष्टि जीवने।

ज्ञानीका गुणविनयसम्यग्दृष्टि जीव व्यक्तिगत रूपमें तो उसका महत्व नहीं देता। किसी भी व्यक्तिको ज्ञानी पूजता है तो व्यक्तिके नाते नहीं पूजता, किन्तु धर्मके नाते पूजता है। पंचपरमेष्ठी है अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इनमें किस व्यक्तिको पूजें? किसीका नाम देखा नहीं है। नाम लेकर भी जो वंदन करते हैं भरतका, बाहुबलिका, ऋषभदेवका, महावीर स्वामीका, रामचन्द्र जी का जितने भी सिद्ध हुए हैं उनका नाम लेकर जो विनय करते हैं वह व्यवहारदृष्टिसे है। नामकी मुख्यता लेकरके वह विनय नहीं है किन्तु अनन्त गुण सम्पन्न आत्माके शुद्ध विकासको दृष्टिमें लेकर वंदन करें तो वह वंदन और विनय है।

भगवंत अरहंतअरहंत सिद्ध उसे कहते हैं जो पूज्य हो। जिसने चार घातिया कर्मरूपी शत्रुवोंको नष्ट कर दिया हो, रागादिक विभावोंसे जो सदाके लिए मुक्त हो गया है, किन्तु जब तक उसके घातिया कर्मोंके सहायक अघातिया कर्मोंका उदय है तब तक वह अरहंत प्रभु कहलाता है। अघातिया कर्म जीवके गुणोंका घात नहीं करते, किन्तु जितने काल तक जीवके गुणोंका घात करने वाले घातिया कर्म रहते हैं उतने काल तक उन घातिया कर्मोंका उतने घातके काममें सहायक होता है। सो घातिया कर्म जब नहीं हरे तब अघातिया कर्म इस जीवके गुणघातमें सहायक तो नहीं किन्तु पूर्वबद्ध कर्म हैं तब तक उनकी स्थिति है, वे कर्म रहते हैं। जब तक अघातिया कर्म हैं और घातिया कर्म तो हैं ही नहीं तब तक उन्हें अरहंत कहते हैं। हमारे देव अरहंत हैं। इसमें किसी नामका पक्ष नहीं है। केवल शुद्ध विकासका पक्ष है जैन सिद्धान्तमें, किन्तु इस लक्ष्यकी जब मुख्यता हमारी व्यवहारिकतामें न रही तो अन्य मंतव्यों जैसे नामकी मुख्यता रखकर अपना पराया जो बनाया है, इस विधिमें लोग कुछ जुगुप्साकी दृष्टिसे या अनमेलकी दृष्टिसे निरखने लगे हैं। सो यह विवाद तो संसारमें अनादिसे ही चला आया है।

ज्ञानी की स्वरूपपूजाजैन सिद्धान्तमें स्वरूपकी पूजा है, गुणोंकी पूजा है, किसी व्यक्तिकी पूजा नहीं है। भगवान ऋषभदेव मरूदेवीके नन्दन थे, नाभिके नन्दन थे, इस कारण वे बड़े हैं ऐसा

जैन सिद्धान्त नहीं मानता। महावीर प्रभु सिद्धार्थके नन्दन थे इस कारण हम उन्हें नहीं मानते हैं किन्तु उस भवमें स्थित आत्माने ऐसे स्वभावका आश्रय, आलम्बन ध्यान किया कि जिसके प्रतापसे चारघातिया कर्म नष्ट हुए ओर अघातिया नष्ट हुए, आत्मा सिद्ध हो गया। इस कारणसे मानते हैं। तो जिस कारणसे मानते हैं उस कारणमें नाम नहीं लगा है। नामके कारण हम किसीको नहीं मानते हैं। यह तो गुणोंकी पूजा है, शुद्ध विकासकी पूजा है।

दोषके उपगूहनका कारणभैया! जिसे स्वभावदृष्टिकी रुचि है वह उसमें भंग नहीं चाहता। जिसको जिसमें रुचि है वह उसमें लांछन नहीं लगाने देता। किसी धर्मात्मा के दोष प्रकट न करने से कहीं यह बात नहीं है कि उस नाम वाले धर्मात्मासे उस साधर्मी को प्रेम है इसलिए वह दोषोंको प्रकट नहीं करता, किन्तु रत्नत्रयरूप धर्ममें उसे प्रेम है इसलिए वह दोष प्रकट नहीं करता। लोग यह ग्रहण करेंगे कि इस धर्ममें तो ऐसा ही हुआ करता है। यह काहेका धर्म है? ऐसे धर्मकी निन्दा, धर्मका लांच्छन लगा इस कारण उस धर्मात्माको दोष न लगने दें। और फिर जीवोंकी दृष्टि ग्रहण करनेकी है। हुआ दोष तो ग्रहण करे, न हुआ दोष तो भी चूँकि दोषमय जगत है, तो इस कारण न किया हुआ दोष भी दोषरूपमें उपस्थित करनेकी आदत बनी हुई है, ऐसी स्थितिमें विवेकी पुरुष किसी भी धर्मात्माके दोष प्रकट करनेकी भावना नहीं करता।

उपगूहनका तात्पर्यउपगूहनका अर्थ ढाकना नहीं है, किन्तु उपगूहन का अर्थ जनता के उपयोगके मैदानसे उन दोषोंको दूर किए रहना है। ऐसे जो जीव धर्मरुचिके हैं, धर्मात्मावोंके धर्मके, सर्व धर्मोंके उपगूहक हैं अर्थात् निन्दा दोषोंके उपगूहक हैं वे उपगूहन अंग वाले हैं। केवल निश्चयदृष्टिमें चलें तो जीवमें उत्पन्न होने वाले जो मिथ्यात्व रागादिक दोष हैं विभावरूप धर्म हैं, उन धर्मोंका वह प्राच्छादन करता है, हटाता है। प्रभुकी ज्ञानभूमिसे उन दोषोंको हटाता है वही वास्तविक उपगूहन अंग वाला सम्यग्दृष्टि है।

उपवृंहणका तात्पर्यअथवा इसका दूसरा नाम है उपवृहंक। चूँकि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायक स्वभावमय है। इस कारण समस्त आत्मशक्तियोंका वर्द्धनशील होनेसे यह सम्यग्दृष्टि जीव उपवृंहक है, इसमें अपनी आत्मशक्तिकी दुर्बलता नहीं है साहस है इसमें। कितने ही कर्मोंका तीव्र उदय आये, सब परिस्थितियोंमें इसके यह साहस बना हुआ है कि यह अपनी आत्मशक्तिका वर्द्धन करे, अतः आत्मशक्तिका उपवृंहरण करने वाला यह ज्ञानी है।

ज्ञानीकी उपगूहनता और उपवृंहणताका फलयह सम्यग्दृष्टि धर्मात्माके दोषोंका विनाशक है; प्रच्छापक है, यह सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व रागदिक विभावोंका विनाशक है, यह सम्यग्दृष्टि अपनी शक्तियोंका उपवृंहक है, प्रगतिमें अपने आपको ले जाने वाला है, इस कारण इसके उपगूहन रूप असावधानीकृत बँध नहीं होता अथवा अपनी शक्तिकी दुर्बलतासे होने वाले बँध इस सम्यग्दृष्टि जीवके नहीं होता, जब न अनुपगूहनका दोष रहा, न दुर्बलताका दोष रहा तो कर्मोंकी निर्जरा ही

इसके उस गुणके कारण होता है। किसी भी संकटमें बँधनमें यह जीव पड़ा हो उसके बँधन और संकट मिटनेके उपाय चाहे व्यवहारमें नाना हों, पर उन सब व्यवहारोंका प्रयोजनभूत परमार्थिक उपाय केवल एक ही है वह है शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रहना।

ज्ञाता रहनेकी विधि और निषेधरूपमें वर्णनशुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रहनेकी स्थितिमें विधि और निषेधके ये दो कार्य चलते हें विधिके कार्यमें निज ज्ञायकस्वभावका निर्दोष परिणमन है और निषेधरूप कार्यमें रागादिक दोषोंका निवारण है, उपाय एक है, उस उपायको जब विधि रूपसे कहते हैं तो यह कहना चाहिए कि निज ज्ञायकस्वभावका दर्शन, अवलोकन, विश्वास, प्रत्यय, अवगम और उसीमें रत रहना ये उपाय हैं संकटोंसे मुक्त होनेके और जब निषेधरूपसे वर्णन करेंगे तब यह कहा जायगा कि मोह न करना, रागद्वेष न करना, विषय कषायोंमें न पड़ना ये सब उपाय हैं संकटोंसे दूर होनेके। ये भी उपवृंहण और उपगूहनके रूपमें विधि निषेधरूप दो प्रकारके बताये गये हैं।

ज्ञानीका उपगूहन अंगमें कर्तव्यइस सम्यग्दृष्टि जीवकी शक्तिकी दुर्बलतासे होनेवाला बँध नहीं है, किन्तु अपनी शक्तिकी संभालके कारण और किसी परदृष्टिमें न उलझनेके कारण पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा ही होती है। उपगूहनका अर्थ है छिपाना। तो निश्चयकी प्रधानतामें इसका अर्थ यह हो गया कि अपने उपयोगको परमार्थ सिद्धस्वरूप चैतन्य भावमें उपयोग लगावो और इसके अतिरिक्त मिथ्यात्व रागादिक जो भाव हैं उनका उपगूहन करें और व्यवहारमें यह अर्थ है कि अपने मनकी प्रगतिमें शक्ति बढ़ाएं और धर्मात्मा जनोंके दोषोंको जनतामें प्रकट न करें सो यह उपगूहन अंग है। यह अंग सम्यग्दर्शन का उन मुख्य अंगोंमें से एक अंग है।

उपगूहन अंगके पालक जिनेन्द्रभक्त सेठउपगूहन अंगमें जिनेन्द्रभक्त सेठ प्रसिद्ध हुए हैं, उनकी ऐसी कथा है कि महलमें एक विशाल चैत्यालय बना हुआ था। वहाँ किसी चालाक आदमीने देख लिया कि इस चैत्यालयमें एक मणि जड़ित छत्र है, तो सोचा कि इसको चुराया कैसे जाय? सोचते-सोचते एक युक्ति ऐसी आयी कि ब्रह्मचारी या क्षुल्लक बन जायें, कुछ दिनों तक यहाँ रहें, जब इनको विश्वास हो जाय तो किसी समय अवसर मिल सकता है कि इसको चुरा ले जायें। सो वह बन गया क्षुल्लक, मंदिरमें रहने लगा। बहुत दिनोंके बाद जब जिनेन्द्रभक्त को कहीं बाहर जाना था तो सब कामकाज चाभी क्षुल्लकजीके सुपुर्द कर दिया और चल दिया। इसने यह देखा कि अब अवसर है उसे तो वह कीमती छत्र चुराना था, उसे चुराया और रात्रिको वहाँसे चल दिया। वह तो जा रहा था और उस चमकते हुए छत्रको देखकर कोतवालने पीछा किया और उसे पकड़ भी लिया। इतनेमें सामनेसे जिनेन्द्रभक्त भी आ रहे थे। जब मामला उन्होंने जाना तो जिनेन्द्रभक्त कहता है कि यह तो हमींने बुलाया था। यद्यपि बात ऐसी नहीं है, किन्तु आशय तो देखो कि जिसमें यह बात बसी हुई है कि धर्ममें लांछन न लगे। कोई लोग यह न जानें कि जिनधर्मके धारण करने वाले पुरुष ऐसे हुआ करते हैं। केवल धर्मके लांक्षनको उपगूहित करनेके लिए उन्होंने यह किया। उसके

आशयमें कहीं उस व्यक्तिसे अनुराग न था कि उसे बचाना है। केवल लोकमें धर्मको लांछन न लगे, इस आशयसे किया था।

स्वरूपके रुचियोंका स्वरूपको अलाञ्छित रखनेका प्रयत्नभैया! उपगूहन अंगमें यह आशय रहता है कि लोगोंकी दृष्टिमें यह धर्म मलिन न समझा जाय। ऐसे इस संसार संकटसे सदाके लिए मुक्त करा सकने वाले धर्मकी भक्तिमें जो ज्ञानी पुरुष रहे हैं वे धर्मके स्वरूपमें लांछन नहीं सह सकते। और परमार्थसे जो शुद्ध चैतन्यस्वभावमात्र निज परमात्मप्रभु है उस प्रभुके गुणोंका रुचिया ज्ञानी पुरुष अपने आपकी भूमिकामें उत्पन्न होने वाले विभाव लांछनोंको नहीं सह सकता। जैसे व्यवहारमें ज्ञानी पुरुष धर्मके लांछनोंको दूर करता है इसी प्रकार निश्चयसे अपने आपके आत्मामें से विभावरूप लांछनोंको दूर करता है और इन दोषोंको दूर करनेका स्वभाव इस आत्मामें है।

सम्यग्दृष्टिकी उपवृंहकताइस उपगूहक सम्यग्दृष्टिके ऐसा उत्साह बना रहता है। समस्त आत्मशक्तियोंको बढ़ानेका स्वभाव रखनेसे और विकासका यत्न करनेसे इस सम्यग्दृष्टिका नाम उपवृंहक भी है। इस जीवके शक्तिकी दुर्बलतासे होने वाला बँध नहीं होता है, किन्तु निर्जरा ही होती है, इस प्रकार उपगूहन अंगका वर्णन करके अब स्थितिकरण अंगका वर्णन किया जा रहा है

उम्मगं गच्छंतं सगंपि मग्गे ठवेहि जो चेदा।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३४ ॥

उन्मार्गमें जाते हुए अपने आत्माको भी जो सन्मार्गमें स्थापित करता है वह ज्ञानी स्थितिकरण गुण सहित सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

ज्ञानीके स्थितिकारिताजिसे अपने आत्माके सत्य स्वभावमा परिचय होता है ऐसा पुरुष निष्छल होकर अपने आपको और दूसरे प्राणियोंको मार्ग में स्थित बनानेका यत्न करता है। कोई पुरुष तनके दुःखोंसे ऊबकर धर्मको छोड़कर उन्मार्गमें जाता हो तो उसके दुःख मिटानेका ओर धर्ममार्गमें लगानेका ज्ञानी, सधर्मी बड़ा प्रयत्न करता है। इस ज्ञानीकेलिए जगतके सब जीव एकसमान हैं, और जिन जीवोंके धर्मकी ओर प्रेम है, मोक्षकेलिए यत्न है, मोह, रागद्वेष परिणामको दूर रखनेका यत्न करते हैं। ऐसे ज्ञानी जीवोंकी इस ओर प्रीति बढ़ती है। कदाचित् वे दुःखी होकर धर्ममार्गको छोड़कर कुमार्गमें जाने लगें तो ज्ञानी संत उनको धर्ममार्गमें स्थापित करता है। कोई मानसिक दुःखोंसे दुःखी होकर धर्ममार्गको छोड़कर उन्मार्गमें जाने वाला हो तो उसे धर्ममार्गमें स्थित करता है। गरीबी आदिके कारण परेशान होकर जो धर्ममार्गको छोड़कर उन्मार्गमें जाने लगता है उसको धर्ममें स्थिर करता है। ऐसे उन्मार्गमें जाते हुए अन्य पुरुषोंको धर्ममार्गमें स्थित करनेका इस ज्ञानी पुरुषके उत्साह है।

उन्मार्गगामियोंका कर्तव्य आत्मसावधानीनिश्चयसे उन्मार्गमें जाते हुए अपने आपको धर्ममार्गमें स्थित करनेकी इस ज्ञानीमें अलौकिक कला है। उन्मार्गमें जाने वाले इन अनेक

कुमार्गियोंमें इतना महान् अन्तर है कि कोई पुरुष तो ऐसा होता है कि उन्मार्गमें जा रहा हो तो भी ध्यान रहता है कि यह खोटा मार्ग है ओर सच्चे मार्गकी खबर रहती है, किन्तु अनेक जीव तो ऐसे पड़े हुए हैं कि खोटे मार्गमें लग रहे हैं और बुद्धिमानी समझ रहे हैं, उससे विमुख रहनेका ध्यान नहीं होता। यह उन्मार्ग, खोटा मार्ग, विषय कषायोंका मार्ग कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु, कुधर्मकी प्रीति व सेवा करनेका मार्ग इस जीवको भव-भवमें क्लेशका कारण है। अज्ञानी ही धर्ममार्गसे च्युत होकर कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुमें लगता है। कर्मोंका उदय विचित्र होता है। उनका निमित्त पाकर यह जीव करता तो है स्वयंकी परिणतिसे ही विकार, किन्तु वे विकार भी विचित्र होते हैं। कैसी धुनि बन जाय, किस ओर दृष्टि लग जाय?

परमार्थ और व्यवहार स्थितिकरणसो भैया! मैं इन विषयकषायोंसे दूर हटूँ। और अपने आपकी ओर अभिमुख होने लगूं ऐसे अपने आपमें अनेक विवेकपूर्ण यत्न करके आत्मस्वभावकी दृष्टिका बल बढ़ाकर उन विषयकषायोंसे अपनेको अलग रखनेका यत्न करना चाहिये। इस आत्माको इस आत्माके स्वभावके ज्ञान विकासमें लगाना और ज्ञाता द्रष्टा रहनेकी स्थिति बनाए रहना यही वास्तविक स्थितिकरण है। ओर व्यवहारमें ऐसे साधन बना देना जिन साधनोंमें रहकर कुछ निश्चिंत रहकर यह जीव अपनी बुद्धिको सही रखे और धर्ममें स्थिर गति करे वह है व्यवहारका स्थितिकरण। जो जीव उन्मार्गमें जाता हुआ खुदको धर्ममार्गमें स्थापित करता है उसे स्थितिकरण अंगका पालक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

उन्मार्ग और सन्मार्गउन्मार्ग है मिथ्यात्व रागदिक विभाव और सन्मार्ग है निज शुद्ध सहज स्वभावकी दृष्टि। निज सहज शुद्धस्वभाव क्या है? ज्ञानमात्र चैतन्यस्वरूप शुद्धका अर्थ है कि जो सत् आत्मा है उस आत्माके ही नाते उस सत्वके ही कारण आत्मामें जो कुछ भाव होता है उसे कहते हैं सहज शुद्ध स्वभाव। अपनेसे भिन्न परका नाम सहज भाव नहीं है। परके गुणपर्यायका नाम सहज भाव नहीं है और परका निमित्त पाकर उत्पन्न हुए विकारपरिणामोंका नाम सहजभाव है, किन्तु अपने ही स्वभावसे अपने ही सत्वके कारण केवल जो अपनेमें भाव है उसका नाम सहजभाव है। यह इसकी दृष्टि, इसका आलम्बन इसकी ओर झुकाव यही सन्मार्ग है।

संकटोंसे छुटकारा पानेका उपाय सन्मार्गका आश्रयजीव संकटोंसे छूट सकता है तो सन्मार्गका आश्रय करके ही छूट सकता है। वैसे भी कुछ कुछ अनुमान किया जाय, अंदाज किया जाय तो जब वह विकल्पोंसे दूर बाहरी पदार्थोंकी दृष्टि और स्मरणसे विराम लेता है और अपने आपमें एक निर्विकल्प स्थिति सी पाता है उस समयमें यह शून्य नहीं रहता। आत्माका ज्ञान सद्भूत गुण है। वह परिणमनशून्य कभी नहीं रह सकता। तो उस समय ज्ञानका एक ज्ञानको ही जाननेमें एक साधारण सामान्य परिणमन चल रहा है, उस समय जो इसे निराकुलता मिलती है वह निराकुलता किन्हीं भी बाह्य पदार्थोंके प्रसंगमें नहीं मिल सकती। वास्तविक स्थितिकरण है रागादिक

उन्मार्गोंसे हटाकर शुद्ध ज्ञानस्वभाव के आश्रयको लेना और अभिमुख रहना यही है परमार्थसे स्थितिकरण।

मोहियोंका लौकिक स्थितिकरणका यत्नअहो! लोकमें जीवोंने अपनी ही स्थिति मजबूत बनानेकेलिए बहुत-बहुत काम किए। बहुत अच्छी आर्थिक स्थिति बना लें जिससे कभी क्लेश न आएँ, ऐसे ही कितने ही मकान खड़े कर लें जिनका इतना भरपूर किराया आए कि किसी भी प्रकारके मौजमें अथवा लोगोंके उपकारमें भी लगानेमें कमी न आ सकेगी। शरीरकी स्थिति, धनकी स्थिति, वैभवकी स्थिति मजबूत बनानेका इस जीवने यत्न किया सो वैभवकी ओर ही दृष्टि होनेसे इस जीवने अपने आपमें क्या लाभ किया? लाभको देखा जाय तो स्वयं ही वह अस्थितिमें हो गया है, बुरी परिस्थितिमें आ गया है। मन कमजोर हो गया, आत्मबल घट गया। अचानक कोई विपत्ति आए तो उसमें अधीर हो जायगा।

अस्थितिका परभवमें फलअंतमें पर्यायव्यामोही जीवने कैसा जीवनभर भाव बनाया उससे उपार्जित जो कर्मबँध है उसके विपाककालमें मरण बाद तो एकदम सही फैसला हो जाता है। यहाँ धनके कुछ प्रतापसे दान देकर या कोई बड़े-बड़े उत्सव समारोह आदि मना कर अपने भावोंमें जो कमजोर भाव हुए उनको छिपाया जा सकता है, किन्तु मरणके बाद अब क्या छिपायेंगे? एक-दो तीन समयोंमें ही यह ऐसे शरीर धारण कर लेगा जैसा कि इसका परिणाम हुआ होगा। कीड़ा बन जाय, पशु पक्षी बन जाय, पेड़ पौधा बन जाय अब क्या करेगा? अभी तो करोड़पति थे, बड़ी पोजीशनके थे, बड़ा प्रताप छाया था, लोग हाजिरीमें बने रहा करते थे। अब एकदम क्या हो गया? यदि अपने आपकी परमार्थ स्थिति का ध्यान नहीं हो और इस मनुष्यजन्मको पाकर भी न ऊँचे समागममें रह सके, न ऊँचे पदमें रह सके तो वह गिरनेका ही काम करेगा।

ज्ञानीका पुरुषार्थअपने आपके रागादिक भ्रम विकल्पोंको दूर करके अपने आपको शुद्ध सहज चैतन्यस्वरूपमें स्थिर करना सो स्थितिकरण अंग है। न कुछ सोचे बाहरी बातें न कुछ देखें शरीर आदिक बाहरी प्रसंग। मन, वचन, कायको स्थिर करके उनका भी उपयोग दूर करके क्षणिक विश्रामसे स्थित होकर जो अपने आपमें एक ज्ञानविकास नजर आता है, जाननमें आता है उस विकासरूप अपने आपको बनाए रहना, यही वास्तविक स्थितिकरण है। यह जीव इन रागादिक उन्मार्गोंमें उठते हुए अपने आत्माको परमयोगके अभ्यासके बलसे शिवमार्गमें स्थापित करता है।

परमयोगवह परमयोग क्या है? यद्यपि व्यवहारसे इस ध्यानके सहायक नाना प्रकारके ध्यान बताए गए हैं, अन्य धारणाएँ बतायी गई हैं। उन प्राणायाम प्रत्याहार आदि उपायों द्वारा चित्तको स्थिर करनेका विधान बताया है। बहुत सीधी सरल स्थिर मुद्रासे पद्मासनसे बैठकर एक अपने आपके हृदयस्थान नाभिस्थानपर अष्टदल कमलदलका विचार करके उनके जाप करनेका या कुछ सोचनेका इस ज्ञानस्वरूपको केन्द्रित करेनका उपाय करके एक जगह ठहराया। मायने नाभि कमलमें

और ऐसा विचार बना कि इस ज्ञानदृष्टि रूप अग्निकणमें ऐसा प्रताप प्रकट हुआ है कि ये कर्म ध्वस्त होते रहते हैं। ऊपरके कर्मका औंधा कमल ध्वस्त हुआ, इस तरह अनेक प्रकारकी योग स्थितियाँ की गई, किन्तु उन योग स्थितियोंका प्रयोजन है निज शुद्ध सहज चैतन्यस्वभावकी दृष्टि, अर्थात् बाह्य विकल्प छोड़कर निर्विकल्प स्थितिमें जो ज्ञानको न पकड़ सकने वाला विकास होता है अर्थात् विकल्प न किया जा सकने वला विकास जो मेरे ग्रहणमें तो है किन्तु न अभी ग्रहण विकल्पमें है और न पीछे वह ग्रहण किया जा सकता है, ऐसे शुद्ध ज्ञानविकासकी स्थितिमें बने रहना यही समस्त योग अभ्यासोंका उद्देश्य है। तो परम योग है इसी शुद्ध ज्ञायकस्वभावकी अभेद उपासना।

शिवमार्ग—इस परमयोगके अभ्यासके बलसे जो अपने आपको शिवमार्गमें स्थापित करता है वह स्थितिकरणयुक्त सम्यग्दृष्टि है। वह शिवमार्ग क्या है? निज शुद्ध आत्माको भावना करना। भावनामें और ज्ञानमें याने साधरणतया जाननेमें यह अन्तर है कि साधारण जाननेमें तो जैसा जान गए तिसरूप अपनेको कुछ बनानेका यत्न न होना, वह तो एक साधारण विज्ञान है। और इस ज्ञानकी भावनाका अर्थ है कि जिस ज्ञानका सहज स्वरूप है उस प्रकार ज्ञानमें लगना और इस तरह अनुभवन करना, तन्मात्र अपने आपका परिनणमन करना ऐसा जो यत्न है उसे भावना कहते हैं। ऐसे निज शुद्ध आत्माकी भावनाका नाम है शिवमार्ग। ऐसे कल्याणमार्गमें जो अपनेमें आपको निश्चल स्थापित करता है उस सम्यग्दृष्टिको स्थितिकरणयुक्त समझना चाहिए।

अपना ठिकाना न मिलना ही क्लेश—भैया! जीवको और क्लेश क्या है? ठिकाना न रह पाना। यह निजमें अस्थित जीव बाहर जहाँ-जहाँ अपने साधन ढूँढ़ता है, विश्राम करता है वह परमार्थसे विश्रामोंका साधन तो है नहीं। वहाँ तो यह लग ही नहीं सकता। कल्पनामें मानता है, सो वे विनाशीक पदार्थ जब नष्ट होते हैं तब इसे क्लेश होता है। कोई पुरुष जीवनभर साधारण धनमें गरीबी मानकर दुःखी होने लगे और कोई पुरुष खूब धन कमाकर अपने जीवरभन धनी होनेके गौरवका मौज ले तो इसने तो कई वर्षों तक थोड़ा-थोड़ा करके दुःख भोगा है पर उस बाह्यदृष्टिमें धनके मौजमें चाहे जीवनभर दुःख न भोगा हो, पर अंतमें जब वियोग होता है तो मानो सारे जीवनके सुखके एवजमें एकत्रित होकर एकदम दुःख टूट पड़ता है, वह विकल्पोंमें बड़े संक्लेश करता है। तो किस पदार्थका संयोग हमें ठिकाने रख सकता है? जिस पदार्थकी शरणमें जावो वहाँसे उस पदार्थकी ओरसे फुटबॉलकी तरह ठोकर मिलती है।

अस्थित पुरुषकी फुटबॉलकी तरह अशरणता—जैसे फुटबॉल जिसके पास पहुँचता है वह उसको रखनेके लिए नहीं ग्रहण करता है बल्कि आते ही झट लात मार दिया, हाथ मार दिया। जैसे ही फुटबॉल उस बालकके पास पहुँचा वैसे ही उससे ऐसा उत्तर मिलता है कि क्षणभरको भी उसके पास नहीं ठहर पाता है, उसे यत्र-तत्र डोलना ही पड़ता है। इसी तरह रागादिक भावोंकी हवासे भरा

हुआ यत्र तत्र गैर ठिकाने डोलता हुआ यह जीव जिस पदार्थकी शरणमें जाता है; अर्थात् यह अपने उपयोगमें जिस पदार्थको सहाय मानता है जिसे रखता है, जिसके पास ठहरता है, उस पदार्थकी ओरसे तुरन्त ही और तुरन्त तो क्या पहिले से ही उत्तर बना हुआ था, जवाब मिल जाता है। उस पदार्थमें कोई परिणति, कोई आत्मस्थितिकी बात उत्पन्न नहीं होती है। वैसी ही कल्पनासे कैसे ही पदार्थोंके निकट ठहरकर मौज मानते रहें, वह हमारे कल्पनाकी बात है, किन्तु किसी पदार्थने मुझे आश्रय नहीं दिया, मुझे शरण नहीं दिया, मेरा सुधार नहीं किया।

मेरे ठिकानेका आश्रय□परपदार्थ मेरा कुछ कैसे करें? प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने चतुष्टयमें सत् है। अपने द्रव्यमें हैं, अपने प्रदेशोंमें हैं, अपनी ही उस भूमिमें, प्रदेशोंमें अपना परिणमन करने वाले हैं, अपने ही गुणोंमें तन्मय हैं। तो वे पदार्थ अपनेसे बाहर क्या कर सकते हैं। कहीं वे दूसरोंसे ग्लानि करके खुदगर्जीमें नहीं बैठते हैं, किन्तु वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि वे हैं और अपनेमें परिणमते रहते हैं। ये दो उन पदार्थोंकी खास बातें हैं। ऐसा ही सब पदार्थोंमें है। तो मैं किस पदार्थके निकट पहुँचूं, किसको अपने उपयोगमें बसाऊँ कि मेरा स्थितिकरण बना रहे, स्थिरता बनी रहे। ऐसा बाहरमें कुछ भी नहीं है कि जिसको उपयोगमें बसानेसे कुछ ठीक ठिकाने रह सकें। वह तो तत्व है खुदका ही सहज स्वरूप। अर्थात् अपने आप अपने ही सत्वके कारण स्वयं जो कुछ यह है उसको जान ले,समझ ले और उसकी समझपर ही बना रहे, तो इसको ठिकाना मिलता है। अन्यथा तो कहीं भी ठिकाना नहीं है।

बाह्यमें ठिकानेका अभाव□भैया! बाह्यमें कैसी भी स्थिति आ जाय, बड़ा राज्यपाट भी मिल जाय मगर यह उपयोग ठिकाने तो नहीं रहता। बड़ी सम्पदा मिल जाय तो भी ठिकाना तो नहीं रहता है। दूसरा पुरुष जब विह्वल होता है और अपने ठिकाने नहीं रह पाता है, अंट्ट-संट्ट अधीरताकी बातें किया करता है, तब इसको बड़ी जल्दी विदित हो जाता है कि देखो कैसा यह अधीर हो रहा है, अटपट बातें बोलता है। इसका चित्त ही ठिकाने नहीं है। ऐसे ही हम जितने काम करते हैं वे सब अंट्ट-संट्ट करते हैं। यह बाहरमें क्या करेगा? अशुद्ध निश्चयसे तो यह अपने विभावपरिणाम करता है, वह भी प्रतिकूल है, आत्माके स्वभावके अनुकूल, निराकुलताके अनुकूल कार्य नहीं है। इसी कारण व्यवहारमें ऐसी परिणतिया हो जाती हैं जिनमें यह सारा जग झूम रहा है, चल रहा है, विचर रहा है, ऐसी वृत्तियां हो जाती हैं जिनमें ठीक ठिकाने यह जीव नहीं रहता है।

अपने ठिकाने स्थित हुए जीवके बन्धका अभाव□जो जीव रागादिक रूप उन्मार्ग को छोड़कर शुद्ध ज्ञानस्वभावकी भावनारूप सन्मार्गमें अपने आपको स्थापित करता है वही स्थितिकरणयुक्त सम्यग्दृष्टि पुरुष है। इसके अब अस्थितिकरण नहीं रहा, ठौर ठिकाना भटकना नहीं रहा, इस कारण ठौर ठिकाना भटकने रूप होनेवाला जो बँध था वह बँध नहीं होता है किन्तु अपने आपकी ठिकाना स्थिर रहनेसे, अपने आपके स्वभावका आश्रय करनेसे इसके पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा ही होती है,

इस प्रकार परमार्थसे जो जीव अपने आपको स्थित करता है वह सम्यग्दृष्टि स्थितिकरणयुक्त जानना चाहिए।

पुष्पडालकी स्थितिकरणके लिये वारिषेणका यत्न—स्थितिकरण अंगमें वारिसेण मुनि प्रसिद्ध हुए हैं। वारिसेण मुनिके आहार करानेके बाद उनके मित्र पुष्पडाल बहुत दूर तक पहुँचाने गए। उन्होंने कितना ही चाहा कि ये मुनिराज मुझे पीछे लौट जानेको कहें, किन्तु उनके तो मित्रके उद्धारका भाव था, सो पीछे लौट जानेको नहीं कहा। तब पुष्पडाल का भी कुछ चित्त बदला और मुनि हो गए। मुनि तो हो गए, पर उनको स्त्रीका ख्याल सताने लगा। यद्यपि वह स्त्री कानी थी, कोई प्रियवादिनी भी न थी, किन्तु मोह तो है, तब वारिसेणने उनके अस्थिरचित्तपनाको कैसे मिटाया कि स्वयं उन्होंने माँ को खबर भेजा कि आज हम आयेंगे और सब रानियोंको श्रृंगार करके तैयार रखना। माँ ने पहिले तो विलक्प किया कि ऐसी कुबुद्धि क्यों अभी, फिर सोचा कि होगा कोई रहस्य। खैर, वे दोनों आये। उस समय पुष्पडाल इस वैभवको देखकर बड़े विरक्त हुए और उनका शल्य छूट गया। सोचा कि ये वारिसेण तो इतने विशाल वैभवको छोड़कर साधु हुए हैं, हमें एक ही स्त्रीका शल्य क्यों हो? यह है स्थितिकरण।

व्यवहारस्थितिकरणसे अन्तःस्थितिका सहयोग—जिसके पास जो सामर्थ्य है उसके बलसे कुपथमें गिरनेके उन्मुख हुए पुरुषोंको धर्मात्मा पुरुष स्थिर करते हैं। ऐसा स्थितिकरण का भाव रहनेपर इस जीवके ज्ञानदृष्टि जगती है क्योंकि दूसरे जीवोंपर मौलिक दृष्टि रहती है तो आत्मस्वभावकी स्मृति रहती है। यदि परिवारके ही लोगोंपर दृष्टि रहे और उन्हें ही आर्थिक और अन्य परिस्थितियोंसे मजबूत करना चाहें और करें तो उससे इसे ज्ञानमार्ग नहीं मिलता। जिससे मेरा सम्बन्ध नहीं है, जो परिवार जन नहीं है, जिनके संगसे विषय साधनाकी कुछ सहायता नहीं मिलती है, ऐसे विरक्त ज्ञानी संतोंकी उपासना और वे कदाचित चलित हों तो उनको धर्ममार्गमें स्थिर करना इस उपायसे ज्ञानकी दृष्टिमें बल मिलता है। इस कारण यह स्थितिकरण अंग सम्यग्दृष्टि पुरुषका एक प्रधान कर्तव्य है।

परमार्थ स्थितिकरणसे मोक्षमार्गमें प्रगति—सर्व प्रथम तो यह ज्ञानी अपने आपको ही शुद्ध मार्गमें स्थित रखनेका यत्न करता है और साथ ही साथ अन्य धर्मात्मा पुरुषोंको किसी कारण चलित देखता है तो उन्हें धर्ममार्गमें स्थित करता है। ज्ञानस्वभावी आत्माको ज्ञानदृष्टिमें स्थित बनना यही वास्तविक सम्यग्दर्शनका फलित पुरुषार्थ है। ऐसा जो स्थितिकरण करते हैं उन जीवोंके मार्गसे च्युत हुए कृत बँध नहीं होता है, क्योंकि वे मार्गसे च्युत नहीं हो सकते। च्युत होनेका प्रसंग आया तो ज्ञानबलसे अपने आपको सावधान बना लिया अर्थात् शुद्ध ज्ञायकस्वभावमात्र मैं हूँ ऐसी दृष्टिको दृढ़ कर लिया और विषय कषायोंसे रहित वृत्ति बना कर ज्ञानके अनुभवका परिणाम कर लिया, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीवोंको मार्गसे छूटनेका कृत बँध नहीं होता है, क्योंकि वे मार्गसे च्युत नहीं होते और

ज्ञानमार्गसे च्युत न होने के परिणाममें पूर्वबद्ध जो कर्म हैं उन कर्मोंमें निर्जरा होती है।

इस प्रकार स्थितिकरण अंग का वर्णन करके अब वात्सल्य अंगका वर्णन करते हैं

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हे साहूण मोक्खमग्गम्हि।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो॥ २३५॥

वात्सल्य भावजो जीव मोक्ष मार्गमें स्थित तीनों साधुवोंका आचार्य, उपाध्याय और साधुवोंका जो वात्सल्य करता है वह वात्सल्यभाव सहित सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। मोक्षमार्गमें स्थित हैं आचार्य, उपाध्याय ओर साधुजन। मोक्षमार्ग कहलाता है मोक्षस्वरूप शुद्ध ज्ञानस्वभावका आलम्बन करना। इस ज्ञानस्वभावके आलम्बनमें स्थित हैं साधुजन। यद्यपि गृहस्थ भी अपनी योग्यता माफिक मोक्षमार्गमें स्थित हैं पर उनके ज्ञानस्वभावकी दृष्टि स्थिर नहीं रह पाती। कारण यह है कि आरम्भ परिग्रहका सम्बन्ध गृहस्थोंके लगा है। उसकी व्यवस्थामें उनका चित्त बसा रहता है। सो यद्यपि कभी-कभी अवसर पाकर उन विकल्पों से मुख मोड़कर वे निज ज्ञानस्वभावका आश्रय करते हैं तो भी यह अवसर एक तो कम आता है और पूर्व वासनाके कारण वास्तवमें गृहस्थ पदमें ऐसी ही परिस्थिति है सो विकल्प उठ आते हैं और यह अस्थिरता मोक्षमार्गके आलम्वनमें शिथिल बना देती है। इस कारण जो जन आरम्भ परिग्रहसे विरक्त हैं आत्मत्वकी साधनामें रत है उन पर वात्सल्य वत्सल आत्मा करते हैं।

समताके पुञ्जशत्रु और मित्रमें साधुका समता परिणाम है, प्रशंसा और निन्दाको एक शब्दमय ही जानकर अपने स्वरूपको पृथक् समझ कर अथवा दोनोंमें जो समता परिणाम करता है, यश और अपयशमें जिसकी यह बुद्धि है कि यह यश और अपयशमें चीज है क्या, दूसरे जीवोंकी एक परिणति। मेरे सम्बन्धमें किन्हीं पुरुषोंने यह जान लिया कि यह बहुत अच्छा है, इसीका नाम तो यश कहा जाता है। तो यह बहुत अच्छा है ऐसा जो विकल्प है वह तो दूसरे जीवोंका परिणमन है। सो दूसरे जीव चाहे यशविषयक विकल्प करें और चाहे अपयशविषयक विकल्प करें, उनके किसी भी परिणमनसे इस मुझ विविक्त आत्माका सुधार अथवा बिगाड़ नहीं हो सकता। आत्माका सुधार और बिगाड़ अपने आत्मा के ही भावोंके अनुसार है। ऐसा जानकर साधुजनोंको यश और अपयशमें भी समानता रहती है।

यदि कोई साधुका भेष रखकर समतापरिणामको धारण न करे और प्रशंसा, निन्दा, यश, अपयश, अपनी महत्ता जानना इत्यादिमें दृष्टि गड़ाता है तो उस जीवको साधु नहीं कहा जा सकता। साधु तो वह है जो केवल निज ज्ञायकस्वभावमें ही रुचि रखता हो, बाहरी लोगोंकी परिणतिमें रुचि न रखता हो, ऐसा जीव ही उन साधुवोंमें अपना वात्सल्य रखता है। यह है व्यवहारसे वात्सल्य अंग। यह ग्रन्थ मुख्यतया साधुवोंके लिए कहा गया है। इसलिए साधुवोंके सम्बन्धमें वात्सल्य भाव बताया है।

साधुजनोंका धर्मरुचियोंमें वात्सल्य—साधु जन साधुवोंमें ही वात्सल्य रखते हैं ऐसा नहीं हैं उनसे तो वात्सल्य रखते ही हैं, किन्तु जो धर्मके रुचिया हैं, विरक्त हैं, धर्मात्मा हैं ऐसे गृहस्थ जनोंमें भी वे साधु यथायोग्य वात्सल्य रखते हैं। यदि साधुके गृहस्थ जनोंपर वात्सल्य न हो तो वे उपदेश कैसे करें? क्या उपदेश प्रेम बिना किया जा सकता है? जो मुमुक्षु श्रावक उपदेश सुनने आएँ और साधु उनको उपदेश दें तो यह बात वात्सल्य बिना नहीं हो सकती। एक प्रभु अरहंत ही ऐसे हैं जिनकी धुनि प्रत्येक जीवपर अनुराग हुए बिना होती रहती है, पर आचार्य, उपाध्याय, साधु ये अभी मोक्षमार्गमें ही चल रहे हैं। इनके अभी मोक्षमार्ग चल रहा है, इनके अभी रागभाव नहीं समाप्त हुआ, सो ये धर्मात्मा जनोंमें निष्छल वात्सल्य करते हैं।

निष्छल वात्सल्य—निष्छल वात्सल्यका अर्थ यह है कि वात्सल्य करके, उनका उपकार करके उस एवजमें अपने लिए कुछ नहीं चाहते। इसके लिए गाय और बछड़ेकी उपमा दी गई है। जैसे गायका बछड़ेपर निष्फल प्रेम रहता है, निःस्वार्थ प्रेम रहता है, गाय बछड़े से कुछ आशा नहीं रखती है कि यह बछड़ा मेरे बुढ़ापेमें कुछ मदद करेगा, यहाँ वहाँसे घास उठाकर मेरे मुँहमें धर देगा। कोई आशा नहीं रखती है पर प्रकृत्या ही गायका बछड़ेपर वात्सल्य उमड़ता है। इसी प्रकार एक सधर्मी पुरुष दूसरे सधर्मी पुरुषकी सेवा शुश्रूषा करके वात्सल्य भावसे उसका उपकार करके भी उसके एवजमें कुछ नहीं चाहता है कि मेरा भी यह कभी उपकार करे या मेरी विपत्तिमें काम आए। ऐसा निष्छल प्रेम सधर्मी जनोंका सधर्मी जनोंसे होता है। यह है व्यवहार मार्गका वात्सल्य अंग।

निश्चय वात्सल्य—निश्चय मार्गका वात्सल्य क्या है? तो इस ही गाथामें केवल साधु शब्दका अर्थ दूसरा लेनेसे निकल आता है। साधु कहते उसे हैं कि जो आत्माके कल्याण को साधे। मेरी आत्माके कल्याणको साधने वाला रत्नत्रयरूप धर्म है। निश्चयसे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप परिणमन ही मेरे कल्याणका साधक है। सो मोक्षमार्गमें लग रहे हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका, अपने इन निर्मल परिणामोंका जो वात्सल्य करते हैं, प्रेम करते हैं, उनकी साधना बनाते हैं उन सम्यग्दृष्टि जीवोंको वात्सल्य भावयुक्त जानना चाहिए।

वात्सल्यका अर्थ—वात्सल्य शब्द भी वत्सल शब्दसे बना है, और वत्स शब्दकी प्रसिद्धि धर्मदृष्टिका नाता जिनसे लगा हुआ है उनमें है। जैसे घरके पुत्र आदिको पुत्र आदि रूपसे कहनेका ही व्यवहार है, पर शिष्योंको मुमुक्षु बनकर आत्मसाधनाकेलिए आए हुए कल्याणार्थियोंको वत्स शब्दका सम्बोधन करनेकी प्रथा है और गायके बछड़ेको भी वत्स शब्द से अधिक कहा जाता है। तो उन वत्सोंमें जो स्नेह लाया जाता है ऐसे स्नेहका नाम है वात्सल्य। वह वात्सल्य भाव युक्त सम्यग्दृष्टि कहा जाता है जो मोक्षमार्गके साधकका अर्थात् निज दर्शन ज्ञानचारित्रका वात्सल्य करता है अथवा उनके आधारभूत साधुवोंका वात्सल्य करता है उसे सम्यग्दृष्टि कहना चाहिएं जिसका जिससे प्रेम होता है वह प्रेमी अपना कुछ बिगाड़ और विनाश करके भी दूसरोंका उपकार करता है।

वात्सल्य अङ्गके पालक श्री विष्णु ऋषिराजइस अंगके पालनेमें प्रसिद्ध विष्णुकुमार मुनि हुए हैं। कैसा था उनका वात्सल्य कि अकम्पानाचार्य आदिक साधुसंघपर जब बलि आदिक मंत्रियोंने घोर उपसर्ग किया था वह दिन था श्रावण सुदी तेरस या चौदशका। उपसर्ग ऐसा किया वे मुनि महाराज तो अपने ध्यानमें लीन बैठे थे, और उन्हें एक बाड़ीसे उन मंत्रियोंने घेर दिया। उनके चारों ओर कूड़ा करकट, अनेक दुर्गन्ध देने वाली चीजें चारों ओरसे लगा दीं जिनमें आग लग जाय। और आग लगा दिया। देखो तो इतना भयानक मुनियोंपर उपसर्ग करनेका मूल कारण अपमानकी ठेस थी। पूर्व समयमें उन मुनियों में से एक मुनिराजके द्वारा उन बलि आदिकको शास्त्रार्थमें हारना पड़ा था, उसकी इतनी चोट थी कि उस समय उन्होंने अपना बदला चुकानेका निश्चय कर लिया था। किसी पुरुष को अपमानित कर देना श्रेयके लिए नहीं होता। यद्यपि वहाँ उन श्रुतसागर मुनिने उन्हें अपमानित करनेकी दृष्टिसे शास्त्रार्थमें नहीं जीता, किन्तु एक धर्मको अक्षुण्ण बनानेके लिए कि राजा यह न कह सके कि जैन सिद्धान्तमें कुछ तत्व नहीं है। इस दृष्टिसे शास्त्रार्थ किया था। पर हुआ क्या सो बहुत खतरनाक परिणाम हुआ।

क्या कोई जनताका आदमी ऐसा उपद्रव देखकर सह सकता है, पर विवश थी जनता। बलिके हाथमें राज्य था, घोर उपसर्ग किया, और इतना ही नहीं, किन्तु इस खुशी में धर्मका ढोंग बनाकर एक अलग यज्ञ रचकर याचकोंको किमिच्छिक दान देने लगा। आवो ब्राह्मणों, जो चाहो दान ले जावो। उसका ७ दिनका तो राज्य था। सारा धन बिगड़ जाय तो उसका क्या बिगड़ा? ऐसी परिस्थितिमें विष्णुकुमार मुनिने अपनी तपस्यामें भी कमी करके उन मुनियोंका दुःख दूर किया था। धर्मका जब अनुराग जगता है तब रहा नहीं जाता। दूसरोंका उपद्रव टालना ही चाहिए।

शुभ अनुरागमें वृत्तिआप जब सामायिक में बैठे हों, जाप दे रहे हों और आपने यह देखा कि इस भींतपर कीड़ा बैठा है और यह छिपकली उस कीड़ेको खाना चाहती है तो प्रकृत्या आपका ऐसा यत्न होगा कि पहिले तो वहीं बैठे-बैठे छू-छू करके हाथ हिलायेंगे, जाप सामायिक तो आप कर रहे हैं पर यह दृश्य जब सामने आता है कि अमुक जीव बैठा है और यह छिपकली उसे खाना चाहती है तो अपने ही दिलसे बतलावो कि आप उस जाप की गुरिया फेरते हुए या मंत्र जपते हुए आरामसे बैठे रह सकते हैं क्या? नहीं। दयाका ऐसा अनुराग जगता है कि आप बैठे नहीं रह सकते। यहाँ कोई प्रश्न करे तो क्या सामायिकी प्रतिज्ञा लेकर अथवा जापमें बैठकर यह क्रिया करना चाहिए? वहाँ तो मन, वचन, कायकी क्रियावोंको बंद ही करना चाहिए। हाँ भाई उस जाप देने वालेको इसका पता है और ऐसा करते हुएमें अन्तरसे वह खेद भी मानता है और यत्न भी करता है कि मैं छू-छू करूँ या थप्पड़ बजाऊँ, या थोड़ा झुककर कुछ उसमें घबड़ाहट पैदा कर दूं ताकि वह कीड़ा बच जाय। ऐसा यत्न करते हुए वह अपने आपमें ऐसा विषाद भी कर रहा है और यह अनुरागका कार्य भी कर रहा है। अपना ही प्रेक्टिकल करके देख लो।

श्री विष्णु ऋषिराजके दयाकी उमड़तो विष्णुकुमार मुनिराज जिनको विक्रियाऋद्धि सिद्ध थी, जब उन्हें यह समाचार विदित हुआ कि अहो मुनिसंघपर इतना घोर उपसर्ग हो रहा है, तो उनके यह इच्छा हुई कि यह उपसर्ग दूर किया जाय, किन्तु उन्हें अपनी ही ऋद्धिका पता न था। देखो ऐसे समयपर विष्णुकुमार मुनिराजने सोचा कि क्या ऐसा किया जा सकता है कि अपने ध्यानका लक्ष्य कर इस उपसर्गको दूर कर सकें? लेकिन जब पता हुआ, जिसने समाचार दिया था उन क्षुल्लक जी ने कि विक्रियाऋद्धि सिद्ध हुई है अपना हाथ बढ़ाया तो बढ़ता ही चला गया पर्वत तक। जान लिया कि विक्रियाऋद्धि हई है। तो विष्णुकुमारमुनिने उस विक्रियाऋद्धिकी सिद्धिके बलसे उपसर्गको दूर करनेकी ठान ली।

जैसे घरका बच्चा बीमार हो और आपका उससे प्रेम हो तो सारा धन खर्च करके भी आप उस बच्चेको बचाना चाहते हैं। जिस धनको आपने बड़े कष्टसे कमाया, बहुत दिनोंमें कमाया, वह धन हजारों लाखोंका बच्चेकी बीमारीमें दो तीन दिनमें ही खर्च कर देता है, और खर्च करते जाना आवश्यक है, बड़ा खर्च करना पड़ता है, सो सारा खर्च कर देता है। तो विष्णुकुमार मुनिको बड़ी साधनाके फलसे विक्रिया ऋद्धि सिद्ध हुई थी, उस ऋद्धि सम्पत्तिके खर्च करनेके लिए अर्थात् विकल्प करके उस अनुपम साधनासे कुछ गिर गए। गिर जाने दो, गिरते हुए भी जान रहे हैं कि उठना किस तरहसे होता है? उनको ज्ञान है।

श्रीविष्णु द्वारा करुणासम्पदानकी प्रस्तावनावे झट गए, जहाँ बलि यज्ञका ढोंग रच रहा था एक बामन स्वरूप रखकर। वहाँ किमिच्छक दान देने वाले बलिके आगे मंत्र और बड़ी ध्वनिसे यज्ञकी बातें भी करलीं। उस समय संतुष्ट होकर बलि कहता है कि जो तुम्हें माँगना हो माँगलो। एक तो अन्याय कर रहा है बलि और पिछला बदला चुकाने के आशयसे खुश हो रहा है। और दूसरेका धन है सो खूब लुटा रहा है। ऐसी हालतमें संतुष्ट होकर बलि यों कहता है कि ले लो जो तुम चाहते हो। विष्णुजी बोले कि मुझे तो केवल तीन पैर जमीन चाहिए। विष्णु जी मायने विष्णुकुमार मुनि। आज यह प्रसिद्ध हुआ है कि विष्णु जी ने ही तीन पैर भूमि मांगा था। विप्र लोग अब राखी बाँधते हैं तो यह श्लोक पढ़ते हैं कि जैनराज बली बध्यो। वहाँ जैन नहीं है,येन है, क्योंकि ये की जगह जै कर देने से श्लोक अशुद्ध हो जाता है। जिसने बलि राजाको बाँध लिया वह हम सबकी रक्षा करें।

श्री विष्णु ऋषिराजकी विक्रिया व साधुवोंका उपसर्ग निवारणतो तीन पैर जमीन विष्णुने माँगा। बलि राजा बोला कि तीन पैड जमीनमें क्या होता है, अरे कोई महल माँगो, सोना चाँदी माँगो, कोशोंकी जमीन माँगो। विष्णु बोले कि हमें तो तीन पैड़ ही जमीन चाहिए। इसका उन्होंने संकल्प किया। कहा अच्छा ले लो। विष्णुने एक टांगको तो मध्यमें रखा, मानो सुमेरुमें, चारों ओर टांगको घुमाया, सारा मनुष्यलोक घेर लिया। विष्णुने कहा कि अब तीसरा पैर दो। इतना ही

देखकर राजा बलि भयसे कांप गया और कहने लगा कि महाराज अब मेरे पास और जमीन कहाँ है? उस समयका दृश्य कई दृष्टियों से बड़ा रंजक था। अंतमें बलिसे विष्णुने कहा कि इन सब मुनियोंका उपसर्ग इसी समय दूर करो। उपसर्गको बलिने दूर कर दिया। तो विष्णुकुमार मुनिराजने अपनी साधनामें शिथिलता भी करके अनेक मुनियोंके प्राण बचाए। उनपर वात्सल्य भाव प्रदर्शित किया।

वात्सल्यकी नींव निर्मोहतावात्सल्य परिवार जनोंपर करो तो उससे ज्ञानदृष्टि नहीं मिलती है। परिवारके जनोंका भी स्मरण रहे, कुछ भी करो, किन्तु उनके साथ कुछ मोह और रागका सम्बन्ध है तो दुःख ही है। इस कारण परिवारजनोंसे मोह न करो। अन्य धर्मात्मावोंपर, जिनसे कोई अपना स्वार्थ नहीं निकल रहा है ऐसे धर्मात्मा जनोंपर वात्सल्य करो और अपने सन्मार्गमें प्रगतिशील बनो।

वास्तवमें सगुन और असगुनभैया! धर्मात्मा जनोंके प्रति जो वात्सल्यवृत्ति होती है वह ज्ञानस्वभावका स्मरण कराने वाली होती है। यही सगुन है। अन्य जीवोंसे अनुराग बढ़ना जिनसे विषय साधनोंका कुछ मतलब नहीं है, यही एक सगुन है और जिन जीवोंसे मोहभाव बना हुआ है उनसे स्नेह बनाए रहें यही असगुन है। सगुन वह कहलाता है जो निज ज्ञानस्वभावकी दृष्टिमें सहायक है और असगुन वह कहलाता है जो निज ज्ञानस्वभावकी भक्तिमें बाधक है। धर्मात्मा जनोसे निष्छल होकर कुछ न चाहकर वात्सल्य करना चाहिए, उसीसे निर्मलता प्रकट होती है, जिस निर्मलताके प्रभावसे भव-भवके बाँधे गए कर्म क्षीण हो जाते हैं।

निज अभेदस्वरूपका वात्सल्यचूँकि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायकस्वभाव रूप है इस कारण वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों गुणोंसे अपनेको अभेद बुद्धिसे देखता है। उत्तम वात्सल्य वह है जिसमें दूसरा अभेद साधुको दिख जाय, प्रीतिमें भी यही होता कि दूसरेको भी अपना मान लिया जाय। यहाँ निश्चयके वात्सल्य में यह बतला रहे हैं कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्चक्चारित्र इन तीनों गुणोंसे अपने को अभेदबुद्धिसे देखना है अर्थात् इस रूप ही मैं हूँ इस प्रकार रत्नत्रय स्वरूप अपने आपको देखना सो ही वास्तवमें रत्नत्रयका वात्सल्य है। जिसने अपने आपको रत्नत्रय स्वरूप देखा अर्थात् मोक्षमार्गमें वात्सल्य भाव हुआ तो उसको मोक्षमार्ग ही मिल ही गया।

मार्गावात्सल्यकृत बँधका अभावअब इसके मार्ग न मिलनेके द्वारा जो पहिले बँध चल रहा था अब वह बँध नहीं रह गया, और चूँकि मार्ग मिल गया है, शुद्ध ज्ञायकस्वरूप अपने आपके आत्मत्वका अनुभव चल रहा है तो इसका मार्ग मिलनेके कारण पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा ही होती है। यही वास्तविक वात्सल्य है। इसके अवात्सल्य तो है नहीं, फिर बँध किस बातका? बँध उन जीवोंके होता है जो अपने आपके ज्ञान, दर्शन, चारित्र स्वभाव में श्रद्धान न करे, रुचि न करे, इसकी खबर ही नहीं रखे, विमुख रहे और इतना ही नहीं बल्कि इसके प्रतिकूल जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान

और मिथ्याचारित्र भाव हैं इन भावोंकी रुचि रखे, उनका ही तो बँध होता है। सम्यग्दृष्टिके बँधके कारण मुख्य जो मिथ्यात्व है उस मिथ्यात्वका अभाव हो गया इस कारण अब उसके बँध नहीं चलता। उसके मार्गका वात्सल्य है उससे निर्जरा ही होती है। इस प्रकार वात्सल्य अंगका वर्णन करके अब अष्टम अंग जो प्रभावना अंग है उसका वर्णन कर रहे हैं।

विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमदि जो चेदा।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३६ ॥

ज्ञानप्रभावकता व विद्यावोंमें विद्या—जो जीव विद्यारथ पर आरूढ़ है वही मनुष्य जिनज्ञानका प्रभावक हो सकता है। प्रभावना करनेके लिए लौकिक पद्धति भी ऐसी है जैसी कि कोई घोषणा करना हो, ऐलान करना हो तो रिक्शामें बैठकर, तांगामें बैठकर, रथमें बैठकर उसकी घोषणा करते हैं, ऐलान करते हैं। तो इसी तरह यह देखिए कि कोई जीव यदि निश्चय ज्ञानकी प्रभावना करनेको उत्सुक है तो उसकी पहिली प्रवृत्ति यह है कि वह विद्यारथ पर आरूढ़ हो अर्थात् विद्यावान बने। सर्व विद्यावोंकी विद्या है निज शुद्ध आत्मतत्वकी उपलब्धि रूप। लोकमें अनेक विद्याएँ हैं, रेडियोका आविष्कार किया है, उपग्रह छोड़े जा रहे हैं, और अनेक प्रकारके नवीन-नवीन आविष्कार बनते चले जा रहे हैं। इन आविष्कारोंमें क्या कम बुद्धिकी आवश्यकता है? बुद्धि बहुत लगती है। उनका भी बहुत तीव्र विज्ञान होता है पर इतना बड़ा तीव्र विज्ञान कर लेने के बाद भी उनकी परिस्थिति को देखा जाय तो वे शांत नजर नहीं आते, क्योंकि उनकी दृष्टि परद्रव्योंकी ओर है। वे पर जब तक व्यासंगमें रहते हैं तब तक उस पर प्रायोगिक उपयोग है। परकी परिणति अपने आधीन तो है नहीं परका संयोग वियोग अपने आश्रय तो है, नहीं सो उसका वियोग हो, किसी भी प्रकारका परिणमन हो तो उसको देखकर यह जीव दुःखी होता है। सो सब विद्यावोंमें उत्तम विद्या है शुद्ध आत्मतत्वकी उपलब्धिरूप। उसही विद्यारथ पर आरूढ़ होता हुआ जो पुरुष अपने मनकी वेगोंको दूर करता है वही पुरुष जिनज्ञान का प्रभावक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

निदानकी कलुषता—ख्याति, पूजा, लाभ, भोग इनकी जो इच्छा है यही हुआ निदान बँध। निदान बँधको बहुत कुत्सित परिणाम बताया है। आर्तध्यानके चार भेद हैं इष्टवियोगज, अनष्टिसंयोगज, वेदनाप्रभव ओर निदान। इन चारोंमें मुनिराजके तीन आर्तध्यान हो सकते हैं पर निदान नामका आर्तध्यान नही होता है। तो समझो कि उन तीनों की वेदनासे निदानकी कितनी बड़ी वेदना है? कितना बड़ा निदान है?

निदानके नानारूप—निदानके अनेकरूप हैं। सबसे बड़ा रूप तो यह बताया गया है कि धर्मकार्य करके संयम, तप नियम करके परभवमें इन्द्रका पद, राजा महाराजा चक्रवर्ती का पद, बड़े आरामके साधन मिलें, ऐसी इच्छा बनाना सबसे विकट निदान बँध है। और साधारणतया ऐसा भाव बनाना कि परलोकमें मुझे आराम मिले, आनन्दकी स्थिति मिले, सो यह भी निदान बँध है और

इस भवमें भी भविष्यकी आगे की बात सोचना बुढ़ापेमें मुझे आरामके साधन मिलें, कुछ वर्षों बाद मेरी ऐसी बढ़िया स्थिति बन जाय कि ब्याज और किराये से ही सारा काम चलता रहे तो ऐसी इच्छाको भी निदान कहते हैं। और व्यवहारधर्मके बाह्य प्रसंगोंकी चाह करना, परभवमें मेरा धर्मात्मावोंका समागम रहे आदिक बातें सोचना यह भी तो निदान है, किन्तु इसे शुभ निदानमें शामिल किया है। बँध तो है ही। शुभ निदान की अपेक्षा चौथे और गुणस्थानवर्ती जीवको भी निन्दान नामका आर्तध्यान कह दिया गया है, पर मुनिराजके शुभ अशुभ किसी भी प्रकारका निदानबँध नहीं चलता है।

निदानके अभावमें ही उन्नति व शान्तिसाधुजनोंकी कैसी उत्कृष्ट साधना है? उनकी केवल शुद्ध निज ज्ञायक स्वरूपमें ही रुचि है। उनके यह निर्णय है कि इस शुद्ध ज्ञानस्वरूपका श्रद्धान, आश्रय, आलम्बन यही आत्माका सर्व वैभव है। आनन्द ही इस स्वभावके आश्रयमें बसा हुआ है। किसी भी परपदार्थके अथवा परभावके आश्रयसे आत्मा में आनन्द परिणमन नहीं होता। वे सब आकुलतावोंके ही कारण है। कोई मनुष्य किसी भी परपदार्थविषयक किसी भी व्यवस्थाकी दृष्टि बनाए और आशा रखे कि बाह्यमें ऐसी व्यवस्था बन चुकने पर फिर तो मेरा शेष जीवन आराममें और धर्ममें व्यतीत होगा, यह सोचना व्यर्थ है। परपदार्थोंपर दृष्टि दें और उनसे शांतिकी आशा रखें, यह त्रिकाल नहीं हो सकता है।

निदान व मनोकामनाकी लहरोंमें संकटोंका नाचज्ञानी पुरुष शुद्ध आत्मतत्वकी उपलब्धि रूप विद्यारथमें सवार होनेके कारण दुःखके कारणभूत मनोरथके वेगोंको दूर करता है, नष्ट करता है। ये चित्तमें जो कल्लोलें उठती हैं उन कल्लोलोंसे इस जीवको बड़े कष्ट हैं। सबसे बड़ा दुःख है इस मन वाले जीवको तो मानसिक दुःख है। भूखका तो दुःख थोड़ा सह भी लिया जा सकता है, कुछ साधारण भोजन पान मिले तो उसमें भी संतोष किया जा सकता है पर यह व्यर्थका जो मानसिक रोग है लोग मुझे बुरा न समझ लें, मेरा प्रशंसा और नामवरी रहे, ऐसा जो भयंकर विष लगा हुआ है जिस विषपानकी प्रेरणा से यह जीव विनाशीक मलिन मायामय लोगोंके बीच पर्यायका नाम स्थापित करना चाहता है। यह मनोरथका वेग बहुत भयंकर दुश्मन है।

मनोरथोंके विजयीइस चित्तकी कल्लोलोंको इस ज्ञानीने बड़े मजबूत ध्यानरूपी शस्त्रसे नष्ट किया। ध्यान कहलाता है शुद्ध ज्ञानको स्थिर बनाना। चित्तको एक ओर रोकने का नाम ध्यान है। उस चित्तका अर्थ है ज्ञान। जो भी ज्ञान किया जा रहा है एक पदार्थविषयक उस ज्ञानको स्थिर बनाए रहना इसका नाम है ध्यान। इस ध्यानरूपी शस्त्रसे इन मनोरथ वेगोंको ज्ञानी पुरुष नष्ट कर देता है। सो जिसने शुद्ध आत्माका ज्ञान किया और सर्व प्रकारकी इच्छावोंको जो कि भ्रमानेके कारण हैं उनको दूर किया, अपने मनके वेगों से रागद्वेषकी कल्लोलें उठ रही हैं उनको अपने ही ध्यानरूपी खड्गसे नष्ट किया। वे ही पुरुष जन ज्ञानके प्रभावक सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं।

वास्तविक प्रभावनासम्यग्दृष्टि जीव टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायक भाव स्वरूप है, उसने अपने ज्ञानसे समस्त शक्तियोंको लगाकर, जगाकर अपनी पर्यायके अनुरूप अपनेको विकसित किया, इसलिए वह प्रभावनाकारी जीव है। जैन धर्मकी अथवा वस्तु विज्ञानकी, मोक्षमार्गकी प्रभावना यह जीव रत्नत्रय तेजसे ही कर सकता है। कहते हैं धर्मकी प्रभावना करो। किसकी प्रभावना करना है, धर्मकी। तो धर्मका जो स्वरूप है वह जीवोंकी समझ में आए, यही प्रभावना कहलायेगी। समारोह होगा, उत्सव मानना, ये बस इस प्रभावनाके सहकारी कारण हैं। ये स्वयं प्रभावना नहीं है। जिसकी प्रभावना करना है वह लोगोंके चित्तमें बैठे तो प्रभावना कहलाती है। प्रभावना करना है धर्मकी। धर्म कहते हैं वस्तुके स्वभावको। उपदेशके द्वारा अथवा साधु पुरुषोंकी मुद्रा के द्वारा जो जीवोंपर यह छाप पड़ी, प्रभावना पड़ी कि अहो! सर्व विकल्पोंसे पृथक् ऐसे साधु हैं, ऐसा ज्ञान और आनन्द रह जाना ही धर्मका पालन है। यह बात जिन उपायोंसे प्रसिद्ध हो सके, बस उन ही उपायोंके करनेका नाम प्रभावना है।

परमार्थप्रभावना वस्तुविज्ञानजब तक जीवका यह वस्तुस्वरूप परिज्ञानमें न आयगा कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र अपनी सत्ता लिए हुए हैं और उन सबमें परिणमते रहनेका स्वभाव पड़ा हुआ है।, वे अपनी इस परिणमनशीलताके कारण निरन्तर परिणमते रहते हैं। भले ही किसी पदार्थके विकाररूप परिणमनमें अन्य पदार्थ कुछ भी निमित्त हों और यह बात सच है कि किसी परपदार्थका निमित्त पाये बिना विकारपरिणमन नहीं होता है। इतना सम्बन्ध होनेपर भी वस्तुके चतुष्टयको देखो तो निमित्तभूत पदार्थोंका न द्रव्य, न गुण, न पर्याय कुछ भी उसके प्रदेशसे बाहर नहीं निकलता। किन्तु ऐसा ही अद्भुत निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि योग्य उपादान अनुकूल निमित्तको पाकर स्वयं ही अपनी परिणतिसे विकाररूप परिणम जाते हैं। ऐसी वस्तुमें रहने वाली स्वतंत्रताका उद्घोष जब तक अपने आपके हृदयमें नहीं होता है तब तक समझो कि इन जीवोंकी दृष्टिमें धर्मकी प्रभावना नहीं उतरी।

प्रभावनाकी अज्ञानविनाशपूर्वकताप्रभावना अज्ञान अंधकारको दूर हटाकर जिनशासनकी महिमाको प्रकट करना सो प्रभावना है। प्रभावनामें सबसे मुख्य काम है अज्ञान अंधकार मिटाना। यह न मिटे तो प्रभावना क्या हुई? बड़ा समारोह किया, बड़ा शृंगार किया, सजावट की, जुलूस निकाला तो इससे तो केवल यह प्रभावना होगी कि लोग यह जान जायेंगे कि समाजमें पैसा बहुत है और वे खर्च भी दिलसे करते हैं। उनको जो बात समझ में आयगी उसकी ही तो उनके हृदयमें प्रभावना कही जायगी। हमें करना है यदि धर्मकी प्रभावना ज्ञानकी प्रभावना तो धर्म क्या है, ज्ञानका स्वरूप क्या है ये बातें उतारनेका प्रयत्न किया जाय।

प्रभावनीय तत्त्वज्ञानयह तो लोगोंको एकत्रित करनेका और किसी मूर्ति मुद्राका, दृश्य दिखानेका अवसर जोड़ना हुआ। यह भी ठीक है। इस अवसरमें प्रभावना तब हो जब दर्शकोंके

चित्तमें यह बात उतरे कि वस्तुवोंका स्वरूप स्वतंत्र है। जीव और अजीव ये दो तत्व हैं। जब यह जीव ज्ञानस्वभावमें नहीं रहता है, किसी बाह्य पदार्थको रुचिपूर्वक ग्रहण करता है तो वहाँ यह विह्वल हो जाता है, दुःखी होता है, संसारमें घूमता है, उससे उपाधियोंका कर्मोंका आश्रय होता है, बँध होता है, और यह जीव इन सब परदृष्टियोंसे हटकर केवल ज्ञान प्रकाशमात्र अपने स्वभावमें अपने उपयोगको जोड़ता है तो इसके कर्म छूटते हैं, शांति मिलती है, परमविकास होता है। सारे विश्वको जान जाय, ऐसी जो ज्ञानमें शक्ति पड़ी हुई है उस शक्तिका वहाँ विकास हो जाता है, इत्यादिक हितकी बातें दर्शकोंके चित्तमें घर न कर पायें तो बड़ा समारोह करके भी धर्मकी प्रभावना तो नहीं कि, किन्तु समाजकी प्रभावना की। इस समाजके लोग बड़े पैसे वाले हैं, अपने मजहब के पीछे ये दिल जानसे खर्च करते हैं। जो बात दर्शकोंके चित्तमें आयी प्रभावना उसकी कही जायगी। दर्शकोंके चित्तमें धर्म ही उतरे तो धर्मकी प्रभावना है, और उनके चित्तमें केवल सजावट शृंगार और खर्च ही उतरे तो इनकी ही प्रभावना है।

ज्ञानकी कलापर हमारे भविष्यकी निर्भरताप्रभावनाके विषयमें समंतभद्रस्वामीने यह बताया है कि अज्ञानरूपी अंधकारको दूर करके फिर यथोयोग्य जिनशासनका माहात्म्य प्रकट करना उसको ही प्रभावना कहते हैं। हम आपका अलौकिक वैभव ज्ञान है। सारे सुख-दुःख, आनन्द इस ज्ञानकी कलापर ही निर्भर हैं। हम इस ज्ञानसे कैसा जानें कि सुख होने लगे और इस ही ज्ञानसे कैसा जानें कि दुःख होने लगे। और इस ही ज्ञानसे कैसा जानें कि सुख-दुःखके विकल्पोंसे रहित होकर शुद्ध आत्मीय आनन्दका अनुभवन करें? ये समस्त बातें अपने ज्ञानपर निर्भर हैं। कहाँ है यह ज्ञान? अपने में ही तो है और अपने ही आधीन है। हम उस प्रकारके जाननेमें तुल जाएँ जिस प्रकारके जाननेसे मोक्षमार्ग मिलता है तो क्यों न मिलेगा मोक्षमार्ग? हम ऐसे ज्ञानपर तुल जाएँ कि जिससे शांति ही मिलती है तो क्यों शांति न मिलेगी? पर हम ही स्वच्छन्द होकर पुण्यके उदयसे पाया है ना अच्छा शरीर, पुण्यके उदयसे पाया है ना धन और इज्जत, तो उसको पाकर हम अपने आपके स्वरूप को भूल जाएँ और परपदार्थमें ही कुछसे कुछ विकल्प बनाकर वहाँ ही कुछका कुछ परिणमन चाहनेकी धुन रखें तो उसमें शांति नहीं प्राप्त होती। इस सम्बन्धमें यदि और अधिक न बन सके तो कमसे कम इतना तो ध्यान रखते रहें कि ये सब मेरी त्रुटियाँ हैं, और अधिक न बन सके तो इतना चित्तसे न भुलावें, हम गृहव्यवस्था करते हैं तो आत्माके नाते, यह भी मेरी त्रुटि है। हम धनार्जन करते हैं तो यह भी आत्माके नाते से त्रृटि है। हम लोगोंमें एक पोजीशनसे या शानसे रहते हें यह भी आत्माकके नातेसे त्रुटि है। हमारी बाहरकी जितनी भी चेष्टाएँ हैं वे सब चेष्टाएँ आत्माके नातेसे त्रुटियाँ हैं। इतनी बात ध्यानमें बनी रहती है तो हम सुधारके मार्गपर हैं। हम भूले हुए तो नहीं कहलाये।

सर्वोत्कृष्ट प्रवृत्तियोंमें भी अनात्मवृत्तिपनेका साधुके विश्वाससाधुजन जो उच्च विकासके होते हैं वे साधुपदके योग्य क्रियाएँ करके भी, सामायिक किया, दर्शन किया, वंदन किया,

समितियोंका पालन किया, जो उनके और गुण हैं उन सब गुणोंका निर्वाह किया, इतना करनेपर भी अन्तरमें वे समझते हैं कि आत्माके नातेसे ये सब मेरी त्रुटियाँ हैं। कितना है उनके स्पष्ट ज्ञान? आगे खड़े होकर, हाथ चलाकर, पिछी सिरपर रखकर घुमाना क्या यह आत्माका कोई गुण है? आत्माका कोई स्वाभाविक परिणमन है? नहीं है। नहीं है तो क्या यह त्रुटि नहीं है? यह उच्च ज्ञानी साधुवोंके ज्ञानकी विशेषताकी बात बतला रहे हैं। जिसको व्यवहारमें साधु भी समझते हैं और करते हैं। करते हुए भी यह जानते हैं कि आत्माके नातेसे ये दर्शन, वंदन, स्तवन, समिति पालन, ये सारी प्रवृत्तियाँ आत्माके नातेमें नहीं बसी हुई हैं, किन्तु इन प्रवृत्तियोंसे भी रहित आत्मतत्वकी उपलब्धि करनेके लिए इन प्रवृत्तियोंको करते हैं।

सम्यग्दृष्टिके आत्मशक्तियोंका प्रबोधवस्तुस्वरूपका यथार्थ निर्मल परिज्ञान होना और उसके अनुकूल भावना बनाकर निज शद्ध ज्ञानस्वभावमें उन्मुख होना, यही है प्रभावना। ज्ञानी जीव चूँकि अपनेको एक ज्ञायकस्वरूप निश्चल मानता है इसलिए समस्त शक्तियोंको वह जगा देता है। अपनी आत्मशक्तियोंका विकास एक ज्ञानस्वभावी आत्मतत्वको दृष्टिमें लेनेसे स्वयमेव हो जाता है। धर्मके लिए हम बाह्यपदार्थोंपर दृष्टि दे देकर धर्मका संचय करना चाहें तो यह न हो सकेगा, किन्तु धर्ममूर्ति एक निज शुद्ध ज्ञानस्वभावकी दृष्टि करें और तन्मात्र अपना विश्वास बनाएँ तो इस शुद्ध आत्मतत्वकी भावनाके प्रतापसे परमार्थमें भी धर्मका पालन है और उसकी जो भी तन मन वचनकी चेष्टाएँ होंगी वे इस धर्मके अनुकूल होंगी।

ज्ञानस्वभावभावनारूप प्रभावनाका उत्तम परिणामप्रभावना वास्तवमें अपने अज्ञान अंधकारको दूर करना ही है। जो जीव ऐसे अपने ज्ञानकी प्रभावना करता है उस जीवके इस जातिका बँध नहीं होता है। ज्ञानकी जो प्रभावना नहीं कर रहे हैं ऐसे जो जगतके अनन्त जीव हैं, वे जो बँध करते हैं वह बँध इस सम्यग्दृष्टिके नहीं होता, किन्तु उसके उपयोग में ज्ञानस्वभावकी प्रभावना बनी हुई है इसलिए निर्जरा ही होती है। सीधा तात्पर्य यह है कि अम अपनेको सेठ हूँ, मनुष्य हूँ, पंडित हूँ इत्यादि रूप न निरखकर केवल एक ज्ञान प्रतिभासमात्र हूँ ऐसी भावना बने तो अपनेमें ज्ञानकी प्रभावना होती है और कर्मोंकी निर्जरा होती है।

ज्ञानी जीवके निर्बन्धतायह प्रकरण निर्जराका है। कर्म न आयें और कर्म खिरें ऐसी निर्जरासे मोक्षका मार्ग मिलता है। और जो कर्म खिर रहे हैं उन्हींके ही निमित्तसे नवीन कर्म आ जायें तो उसे मोक्षमार्गकी निर्जरा नहीं कहते हैं। जो कर्म बँध गए हैं वे खिरेंगे तो अवश्य, पर अज्ञानी जीवके ऐसा उदयमें आता है कि जिससे और नवीन कर्मोंको बाँध लेता है, किन्तु ज्ञानी जीवके उदय तो होता है पर उदयकालमें अज्ञानमयताका पुट न होनेसे वह नवीन कर्मोंका सम्वरण नहीं करता। यह द्रव्यानुयोगका प्रधान कर्तव्य है। इसमें जो बँध हो भी रहा है उस बँधकी गौणता की गई है। करणानुयोगमें तो जहाँ थोड़ा भी बँध हुआ उसे बँधरूप स्वीकार करके कथन चलता

है, किन्तु इस द्रव्यानुयोग ग्रन्थमें जो संसारका प्रयोजक है, जो संसारकी परम्परा बढ़ानेका कारणभूत है उसे बँध कहा है। वह बँध ज्ञानी जीवके नहीं होता है इसलिए निर्बन्ध है।

निवृत्तिपरक प्रवृत्तिजैसे कोई पुरुष तेज दौड़ लगा रहा हो, और दौड़ लगाते हुए में उसे यह ज्ञान आ जाय कि हम रास्ता भूल गए हैं। भूल गया वह रास्ता, और इस ज्ञान के होते ही कि हम भूल गए इसके बाद भी कुछ दूर तक शिथिल रूपमें दौड़ता तो है पर दौड़ना हटनेका अभिप्राय लगा हुआ है। इसी प्रकार ज्ञानी जीवके भी उदय भाव बँध ये चलते भी रहते हैं कुछ पदों तक किन्तु वे सब हटनेका भाव लिए हुए हैं।

शुद्धात्मभावना भावनिर्जराका उपादान कारणऐसी सम्वर प्रयोजक जो भावनिर्जरा है उसका उपादान कारण क्या है, उसका इन अंतिम गाथावोंमें वर्णन है। यह तो ८ अंगोंका वर्णन चला है यह निश्चयकी मुख्यतासे चला हुआ वर्णन है। अपने आत्माके विशुद्ध परिणामोंको जगाता हुआ, उन्हींको लक्ष्यमें लेता हुआ वर्णन है। तो भावनिर्जराका उपादान कारण क्या है? शुद्ध आत्मतत्वकी भावना।

आद्य चार अङ्गोंका उपादाननिःशंकित अंगमें शंका नहीं रहती है। निर्भयता हो गयी उसका कारण क्या? शुद्ध आत्मतत्वकी दृष्टि इस ज्ञानी जीवके जगी। मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, समस्त परपदार्थोंके सत्वसे अछूता केवल अपने स्वरूपमात्र हूँ, ऐसी दृष्टि जगे तो निःकांक्षित अंग प्रकट होता है। उसमें विभावपरिणामोंकी वाञ्छा न रही तो इसका कारण क्या है कि उसे शुद्ध ज्ञानमात्र आत्मस्वरूपका परिचय हुआ है। निर्विचिकित्सा अंगमें सब वह इन्हीं विभावपरिणामोंके कारण अन्तरमें म्लान नहीं होता। जैसे बुझा दिल सा। कुछ मार्ग न सूझे, कायर बन जाय, कर्तव्यविमूढ़ हो जाय, ऐसी स्थिति न उत्पन्न हो, उसका कारण है यही शुद्ध आत्मतत्वकी भावना। इसी प्रकार अमूढ़ दृष्टि अंगमें वह कुधर्मोंमें मोहित नहीं होता उसका कारण है कि उसे अपने शुद्ध स्वभावका परिचय मिल चुका है और दृढ़ निर्णय है कि हितका मार्ग है तो इस ही सहज ज्ञानस्वरूपका आश्रय है।

उपगूहन अंगका उपादानउपगूहन अंगमें जो धर्मात्मा जनोंसे ईर्ष्या नहीं होती है उनके अवगुणोंका मौजूद हो अथवा न हो, प्रसिद्ध नहीं करता है , और ऐसा यत्न करता है कि उन धर्मात्मा पुरुषोंमें भी ये अवगुण नहीं रहे, ये सब किसके प्रतापसे हो रहे हैं? उसका कारण है कि उसे अपने आपके शुद्ध स्वरूपका परिचय मिला है। ईर्ष्या तो तब होती है जब स्वयंमें पर्यायबुद्धि हो। ऐसी दृष्टि हो कि इससे मेरा बिगाड़ है, अथवा इसके बढ़नेसे हमारा उत्कर्ष न रहेगा। तो पर्यायमें जिसको आत्मबुद्धि है वह ही पर्यायको यह मैं, यह मैं, ऐसा लक्ष्यमें लेकर ईर्ष्या किया करता है। ज्ञानी जीवको धर्मात्माजनोंसे ईर्ष्या नहीं होती है। तब वह दोषोंको क्यों लोकमें प्रकट करेगा और इस शुद्ध आत्मतत्वकी भावनाके कारण ऐसा उत्साहज जगा रहता है कि समस्त अपनी आत्मशक्तियोंको

जगाये बना रहता है।

अन्तिम तीन अङ्गोंका उपादान—इसी तरह स्थितिकरण अंगमें यह अपने आपको रत्नत्रय मार्गमें लगाये रहता है। कदाचित् कर्मोदयसे कुछ अपने मार्गसे च्युत भी हो रहा हो तो भी च्युत नहीं हो पाता। उस वातावरणमें शीघ्र ही अपने ज्ञानबलका आश्रय लेता है और अपनेको धर्ममार्गमें स्थापित करता है। वह किसका प्रताप है? शुद्ध आत्मतत्वके परिचयका प्रताप है। अपने गुणोंमें वात्सल्य होना; अपने शुद्ध ज्ञान चारित्रके विकासमें रुचि जगना ये बातें भी तो इस शुद्ध ज्ञायक स्वरूपके परिचयसे बनी हैं। वह अपनेको प्रभावित करता है, ज्ञानादिकके विकाससे उन्नतिशील करता है, इसका भी कारण शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका परिचय है। यों ८ अंगोंका निश्चयदृष्टिसे इसमें वर्णन किया है।

सम्यग्दर्शनके व्यावहारिक अङ्ग—एक बात और इन्हीं सब लक्षणोंमें साथ-साथ झलक जाती है कि इस निश्चय परिणामका साधक व्यवहारपरिणाम भी है। निश्चय रत्नत्रयका साधक व्यवहाररत्नत्रय है। उस व्यवहाररत्नत्रयसे भी शुद्ध जो सराग सम्यग्दृष्टि जीव हैं उनमें भी ये सब लक्षण घटित करते जाना चाहिए। सराग सम्यग्दृष्टि हो, वीतराग सम्यग्दृष्टि हो उसमें जो अपने मोक्षमार्गको प्रेरणा मिलती है वह शुद्ध ज्ञानमय आत्मस्वरूप के परिचयसे मिलती है। उस सम्यग्दृष्टिके राग हैं इसलिए उसे सराग सम्यग्दृष्टि कहते हैं। राग होनेपर कुछ न कुछ विकल्प होना अवश्यम्भावी है, क्योंकि रागका फल ही है कि कुछ विकल्प बनें। यदि सराग सम्यग्दृष्टि जीवके कोई धर्ममार्गमें चलते हुए विकल्प बनते हैं तो किस प्रकारके व्यवहाररूप ८ अंगोंके विकल्प बनते हैं? सो सुनिये।

सम्यग्दृष्टिका व्यवहार निःशंकित अंग—सम्यगदृष्टिको यह दृढ़ निश्चय है कि जिनेन्द्रदेवके परमागममें जो कुछ वर्णन किया गया है वह पूर्ण सत्य है। चाहे उन वर्णनों का वर्णन न जान सकें, मगर मूलभूत श्रद्धा उसके रहती है। इस श्रद्धाके होनेका मोटे रूपमें क्या कारण है? इस ज्ञानी जीवने सर्वज्ञ स्वरूपका, ७ तत्वोंके विषयमें जिसमें कि युक्तियाँ चलती हैं अनुभव काम देता है, पूर्ण निर्णय किया है कि ७ तत्वोंका स्वरूप इस ही प्रकार है। अभी स्वर्गोंका वर्णन किया जाय तो वह सही वर्णन है। इसके जाननेका आपके पास क्या प्रमाण है? सिवाय आगममें लिखा है इतना ही प्रमाण है। प्रत्यक्ष नहीं दिखता कि स्वर्ग और नरक कहाँ हैं? युक्ति भी कोई समझमें नहीं आती है? कोई वहाँ गया हो और आया हो, वह बात करता हो तो उसका कुछ विशेष अनुमान बने। जैसे कि अभी रूस और अमेरिका नहीं गए, फिर भी निश्चय तो है कि वे हैं। क्या इस ढंगसे स्वर्ग और नरकका भी निश्चय है? नहीं। इस प्रकारका प्रमाण आगमके सिवाय और कुछ नहीं मिलता, लेकिन इस आगमकी प्रमाणतासे स्वर्ग और नरकका निर्णय करनेका प्रमाण उसके पास दृढ़ है।

स्वर्गादि परोक्षपदार्थोंके कथनमें सत्यताके विश्वासका कारण—इसकी दृढ़ताका कारण यह है कि सर्वज्ञ निरूपित ७ तत्वोंके बारेमें पूर्ण निर्णय किए हैं कि यह कथन सत्य है। जो चीज

अनुभवमें उतर सकती है, प्रयोजनभूत है वह कथन जब रंच भी असत्य नजर न आया और उनके अतिरिक्त चरणानुयोग या नाना प्रकारकी पद्धतियाँ, जब उनमें असत्यपना नजर न आया तो सर्वज्ञदेव द्वारा निरूपित ऐसे पदार्थ जो हमारी दृष्टिसे अत्यन्त दूर हैं, जिनमें हमारी इन्द्रियाँ काम नहीं देतीं, वे सब भी पूर्ण सत्य ही हैं, क्योंकि जिन ग्रन्थोंमें प्रयोजनभूत तत्वोंका ऐसा स्पष्ट सत्य वर्णन है उनका अन्य परोक्षविषयक कथन भी सत्य है। ऐसे सत्यके प्रणेता रागद्वेषरहित वीतराग ऋषिसंतोंको, सर्वज्ञ देवोंको ऐसी क्या पड़ी है जो झूठ-मूठ लिख दें। ऐसा नहीं हो सकता। इस कारण स्वर्ग नरक तीनों लोक इन सब की रचना भी पूर्ण प्रमाण है। निःशंकित अंगमें यह व्यावहारिक रूपसे कथन किया जा रहा है कि ज्ञानी जीवको जिनेन्द्र वचनमें रंच शंका नहीं होती।

परके अयोग्य वचन देखकर भी सर्वज्ञ कथनमें शंकाका अभाव□किन्हीं ग्रन्थोंमें ऐसा भी लिखा मिल सकता है जो कि एक व्यर्थ जैसी बात हो, क्योंकि ग्रन्थ तो बादमें अनेकोंने लिखे हैं। जो विधिसे खिलाफ हो, और अपनेको झूठ जंच जाय तो उस ज्ञानीके मनमें यह नहीं आता कि देखो सर्वज्ञदेवने झूठ भी बता दिया, किन्तु मनमें यह आता है कि यह उनकी परम्पराका वचन नहीं है। यह किसीने बीचमें जोड़ दिया है, लिख दिया है, पर सर्वज्ञके वचनोंमें रंच शंका हो जाय ऐसा ज्ञानी जीवका भाव नहीं है।

भोगोंमें इच्छाका अभावरूप निःकांक्षित अङ्ग□निःकांक्षित अंगमें भोग विषयोंकी वाञ्छा नहीं है; किन्तु है, किन्तु वाञ्छा २ तरहसे होती है एक तो होती है लगकर, सोचकर, अन्तरमें अनुराग करके, और एक वाञ्छा होती है उदयवश, परिस्थितिवश। सो ऐसे ज्ञानीको सोचिये जो गृहस्थीमें रह रहा है क्या उस गृहस्थ ज्ञानीके कोई इच्छा ही नहीं पैदा होती? व्यापार चल रहा है, लेन-देन हो रहा है, इतनी बड़ी व्यवस्था बन रही है, भोजन बना रहा है, दूसरोंको जिमा रहा है, खुद जीम रहा है, दूसरोंको जीमनेके लिए बुला रहा है, कितनी तरहकी सुरक्षाकी बातें कर रहा है, क्या ये सब बिना इच्छाके हो रही हैं? इच्छा तो है उस गृहस्थ ज्ञानीमें, पर एक भी ऐसी इच्छा अंतरंगमें नहीं है कि मैं ऐसा कर लूँ तो सदाकेलिए सुरक्षित हो जाऊँगा, इसके बाद फिर मुझे कोई झंझट नहीं रहेगी इत्यादिक भव उसके नहीं है, उसके तो ऐसा भाव है कि मुझे यह करना पड़ता है, मेरे करने योग्य काम तो अपने आत्माको निर्विकल्प समता रससे परिपूर्ण आत्मीय आनन्दसे तृप्त होनेका था, पर उदय और परिस्थिति ऐसी है कि ये सब कार्य करने पड़ते हैं। सो एक तो अंतरमें से इच्छा नहीं जगती।

धर्मके फलमें भोगकी इच्छाका अभाव□दूसरी बात यह है कि जैसे कि छहढालामें लिखा है वृष धारि भवसुख वाञ्छा माने। धर्मको धारण करके संसारके सुखोंको न चाहना। जिसको संसारके सुखोंमें आसक्ति है वह इन्द्रिय सुखकी ओर ही दृष्टि लगाता है। धर्म भी करता है तो उससे सांसारिक सुख मिलता है ऐसी श्रद्धासे करता है। मंत्र जपे, तंत्र करे, पूजन करे, विधान करे,

त्याग करे, दान करे और भी बड़े-बड़े धार्मिक कार्य करे, जो भी कार्य वह करता है, इस आशासे करता है कि इससे हमें पुण्य मिलेगा, सांसारिक सुखोंका समागम मिलेगा। ऐसी बात ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीवके नहीं होती है।

व्यवहारनिर्विचिकित्सित अंगका पालन—इस प्रकार निर्विचिकित्सक अंगमें सराग सम्यग्दृष्टि जीवका निर्विचिकित्सक अंगका पालन इस रूपमें होता है कि कोई धर्मात्मा जो रत्नत्रयका अनुरागी है, आत्मस्वरूपका रुचिया है, केवल एक आत्महितकी ही धुनि जिसने बनायी है ऐसे पूज्य ज्ञानी संतोंकी सेवा करते हुएमें कोई अपवित्रता मल आदिकी स्थिति हो जाय जैसे कि कथामें प्रसिद्ध है कि एक देवने परीक्षा की थी उद्दायन राजाकी कि देखें तो सही कि इसके निर्विचिकित्सक अंग है या नहीं। सो उसने साधुका रूप धरकर वमन कर दिया, फिर भी उद्दायन राजाने ग्लानि नहीं की। यह तो बहुत दूरकी बात है, पर सेवा करते हुएमें शरीरसे कोई दुर्गन्ध आती हो, मल चलता हो ऐसी भी शरीरकी स्थिति हो तो भी ग्लानि न करना चाहिए। और तो जाने दो, शरीरकी चमड़ी कड़ी हो जाती है। फट सी जाती है, ऐसे शरीरमें सेवा करते हुएमें हाथ फेरनेमें कोई लोग कष्टका अनुभव करते हैं, पर कैसी भी स्थिति हो, धर्मात्मा पुरुषोंकी सेवा करते हुएमें कष्ट नहीं मानना चाहिए, ग्लानि न करना चाहिए। यह रूप ज्ञानी पुरुषका व्यावहारिक निर्विचिकित्सा अंगके पालनमें होता है।

व्यवहार अमूढ़दृष्टि अङ्गका पालन—चौथा अंग है अमूढ़दृष्टि। इस अमूढ़दृष्टि अंगके पालनमें सराग सम्यग्दृष्टि जीवका कैसा व्यावहारिक परिणमन है, लोकमें अनेक तांत्रिक मांत्रिक संन्यासी बड़े-बड़े चमत्कार वाले पुरुष, जैसे कि आजकल इसकी प्रथा ज्यादा सुनी जाती है कि कोई ४८ घंटेकी समाधि लगाता, कोई २४ घंटे की समाधि लगाता, कोई १२ घंटेकी समाधि लगाता और वे अपना प्रदर्शन भी करते हैं, लोग जुड़ते हैं, बड़े ऑफिसर उन्हें देखते हैं, उनकी प्रशंसा करते हैं। ऐसे चमत्कारोंको देखकर भी इस ज्ञानी पुरुषका चित्त विचलित नहीं होता है कि मुझे भी यही चाहिए। सत्य बात यही है और तिरनेका उपाय भी यही है, कल्याणका मार्ग भी यही है। ऐसा भाव ज्ञानी पुरुषके नहीं जगता है।

अमूढ़दृष्टिके अन्तविचार—जो कुछ है, देख लिया, जान लिया, सुन लिया, पर हितके समबन्धमें तो उसका यह निर्णय है कि आत्मस्वरूपका परिज्ञान होना, विश्वास होना और उसही शुद्धस्वरूपकमें रमना, इस प्रक्रियावोंको छोड़कर मोक्षका कल्याणका शुद्ध आनन्द का कोई दूसरा उपाय नहीं है। ऐसे सराग सम्यग्दृष्टि जीवको इन प्रसंगोंको देखकर भी दृढ़ निर्णय रहता है। वीतराग सम्यग्दृष्टि जीवके तो ये सब पालन एक निश्चयमार्गसे अपने आपके शुद्ध आत्मतत्वकी भावनामें चलता रहता है। व्यावहारिक रूप आता है तो अनुराग जगनेपर आता है। वीतरागताके भावमें यह व्यावहारिक रूप नहीं आता है।

व्यवहार उपगूहन अङ्गका पालनउपगूहन अंगमें इस सराग सम्यग्दृष्टि जीवका ऐसा व्यवहार है कि वह धर्मात्मा पुरुषोंके दोषोंको अर्थात् धर्मके दोषोंको नहीं प्रकट करता है। धर्म और धर्मी कोई भिन्न-भिन्न जगह नहीं होती है। सो धर्मीके दोषको जनतामें प्रसिद्ध नहीं करता है अर्थात् धर्मको लांछित नहीं करता है। और इसके उपायमें कितनी ही विधियाँ करनी पड़ती हैं उन्हें भी वह कराता है। जैसे प्रथम तो यह है कि धर्मात्माजनों में कोई दोष हो, न हो उसे तो जानकर कहता ही नहीं है पर दोष हो भी, तो भी उसे जनतामें प्रसिद्धि नहीं करता और उन्हीं साधुजनोंको एकान्तमें कहता है, उन्हींसे निवेदन करता है।

सर्वथा अयोग्य दोष होनेपर समाजका कर्तव्यकिसीके दोष ऐसा प्रबल हो जाय कि व्यवहारधर्ममें भी बिगड़ रहा हो ऐसी परिस्थितिमें, और अनेक बार समझाया जानेपर भी वह नहीं छोड़ता है अवगुण तो ऐसी परिस्थितिमें वह सबके बीच सम्मति करके निर्णय करता है, एक अंतिम परिणाम घोषित कर देता है, यह मेरा साधु नहीं है ऐसा जनताको पता हो जाय और इसके बाद फिर उनकी निन्दा चले या अटपट प्रवृत्ति चले तोउससे जनतामें यह प्रभाव न हो सकेगा कि इनके धर्ममें ऐसा ही देखा जाता है। हम उन्हें अपना साधु मानें, धर्मात्मा मानें ऐसा जनता समझे और फिर दोष हो तो जनता यह कह सकेगी कि इनके धर्ममें ऐसा ही होता है। इसलिए धर्मके लांछनको दूर करनेके लिए धर्मात्मा पुरुषोंके कितने ही प्रकारसे यत्न होते हैं पहिले छोटा यत्न फिर मध्यम यत्न। जब वशका ही नहीं रहा कुछ तो अंतिम यत्न यह हैं कि साधुकी अयोग्य परिस्थिति हो जाय तो उन्हें अलग कर देना, बहिष्कार कर देना, किन्तु इसे प्रकट देना। जैसे कहीं-कहीं सुना जाता है कि किन्हीं साधुको कपड़े पहिना दिया। ये विधियाँ भी कभी करनी पड़ें तो यह भी उपगूहन अंगमें शामिल है। धर्ममें दोष है ऐसा जनता न समझ सके ऐसे प्रयत्नको कहते हैं उपगूहन।

वात्सल्य और प्रभावनाका व्यावहारिक पालनवात्सल्य में यह सम्यग्दृष्टि धर्मात्माजनोंमें निश्छल वात्सल्य रखता है, सेवा करता है और प्रभावना अङ्गमें उत्सवों द्वारा, समारोहों द्वारा कितनी ही प्रकारसे पाठशालाएँ खुलवाकर ज्ञान दान देकर जैन शासनकी प्रगति करना है। सराग सम्यग्दृष्टिके अनुरागके फलमें ऐसा व्यवहार होता है, सो ये समस्त व्यवहार रत्नत्रय हैं। यह व्यवहार अंगका प्रयोग निश्चय अंगका साधक है, बाधक नहीं। जितने भी निश्चयधर्ममें प्रतिकूल भाव हैं वे व्यवहारधर्म नहीं हो सकते। और जो ऐसे हमारे व्यवहारधर्म हैं जो निश्चयधर्मकी साधना अवसर देते हें वे सब व्यवहारधर्म हैं। यों अष्ट अङ्गोंका इसमें वर्णन किया है। इस प्रसंगमें अब व्यवहार और निश्चयके सम्बन्धमें प्रश्नोत्तर है, इसको फिर कहेंगे।

निश्चयनयसे तत्त्वकी दृष्टियदि जैन मतके रहस्यको प्राप्त करना चाहते हो व्यवहारनय और निश्चयनय इन दोनोंके मतको न छोड़ों, क्योंकि व्यवहारनय छोड़नेसे तो तीर्थ नष्ट हो जायगा और निश्चयनय छोड़नेसे तत्त्व ही नष्ट हो जायगा। निश्चयनय वस्तुके सहज स्वरूपकी दृष्टि कराता

है और जैसा सहजस्वरूप मात्र अपनेको रहनेमें कल्याण है, जिसका शुद्ध विकास अंतिम साध्य है उसको निश्चयनय लक्ष्यमें कराता है तो निश्चयनयका विषय ही न ज्ञात हो, निश्चयनयको छोड़ दिया जाय तो तत्त्व ही क्या रहा?

व्यवहारनयसे तीर्थकी प्रवृत्तिअब निश्चयनयके तत्वकों ज्ञानसे तो जान लिया, अब जो जाना गया तत्व है उस तत्वमें स्थिर होना है अथवा यों कहो कि जैसा है वैसा ही जानते रहना है तो इस स्थितिको करनेकी जीवमें वर्तमान पर्यायमें सामर्थ्य है नहीं, अनादि से कषायोंका संस्कार चला आ रहा है, उनकी वासनाएँ इसको इस शुद्ध तत्वकी दृष्टिसे विचिलत कर देती है, इस जीवका उपयोग विविध आश्रयोंमें घूमता रहता है। ऐसी स्थिति वाले ज्ञानी पुरुषको अब क्या करना चाहिए जिससे निश्चयनयसे ज्ञान किए हुए तत्वपर इसकी स्थिरता हो सके। तो उसके लिए इन शब्दोंमें कर्तव्य कह लीजिए कि जो फंसाव इसके हो गए थे उन फँसावोंसें अलग होना चाहिए। फँसावोंसे अलग होना एकदम बन नहीं पाता है सो उन्हें कम करना चाहिए। फंसाव हैं विषय और कषायके। विषय और कषायों से बचनेके लिए जो अनुकूल कार्य किए जाते हें उन्हींका नाम ब्रत और संयम है। यही व्यवहारधर्म है। इससे तीर्थकी प्रवृत्ति होती है।

व्यवहारनयके त्यागसे तीर्थके उच्छेदकी प्रसक्तियह पुरुष चले नहीं तो बड़ी अच्छी बात है, और अगर चले तो अपनेको जीवोंको सबको भूलकर क्या अपटपट चलना चाहिए? नहीं। अपनी भी सावधानी, दूसरे जीवोंकी भी दृष्टि रखकर समितिपूर्वक चलना चाहिए। यह वृत्ति ज्ञानीके बनती है इस ही का नाम तो ब्रत है, व्यवहारधर्म है। राग उठता है इस ज्ञानी जीवके जीवके तो क्या उस रागसे परिवारके, कुटुम्बके विषयोंके पोषणमें ही लगना चाहिए? नहीं। राग उठता है तो ऐसी जगह राग लगावो कि जहाँ अपने स्वरूपके दर्शनकी अपात्रता न हो। जैसे जो सिद्ध हुए हैं और जो सिद्ध होनेके प्रयत्नमें लग रहे हैं ऐसे जो परमेष्ठी हैं उनका अनुराग आ जाय, उनकी भक्तिमें लगें, यही तो काम करनेमें आय पड़ता है ज्ञानीको, यही व्यवहारधर्म है। तो व्यवहार धर्मको यदि छोड़ दें तो तीर्थ सब समाप्त हो जाएँ अर्थात् तिरनेका उपाय खत्म हो जाय। तत्वमें स्थिर होनेका मार्ग नष्ट हो जायगा इसलिए व्यवहारधर्म और निश्चयधर्म इन दोनोंको न छोड़ना चाहिए।

व्यवहारोंकी नानारूपताजब तक जैसी बृद्धि है, योग्यता है तब तक उस प्रकार का व्यवहार है। व्यवहार भी पदोंकी अपेक्षा नाना प्रकारके चलते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टिका व्यवहार प्रवर्तन और श्रावकका, मुनिका व्यवहार प्रवर्तन जुदा-जुदा हैं और जो श्रेणीमें स्थित हैं ऐसे साधु जनोंको जब तक कि रागभाव है उनका प्रवर्तन, व्यवहार और प्रकारका है। फिर जब रागभाव समाप्त हो जाता है, निष्कषाय परिणमन हो जाता है ऐसे प्रभुवोंका व्यवहार प्रवर्तन शुद्ध विकास रूप ही है। तो इन दृष्टियोंसे देखा जाय तो जो द्रव्य हैं वे सब व्यवहारमें हैं। जीवद्रव्योंको देखा जाय तो यावत् जीव है, वे सब व्यवहारमें हैं, परन्तु व्यवहार पदवियोंकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न स्थानोंमें

भिन्न-भिन्न प्रकार का है। और पहिले पदका व्यवहार छूटता जाता है, फिर आगे बढ़नेपर उस पदका भी व्यवहार छूट जाता है। इस तरहसे यह व्यवहार छूटता जाता है, अंतमें शुद्ध ज्ञाताद्रष्टामात्र व्यवहार रहता है।

प्रभुका व्यवहार—प्रभुके व्यवहारके सम्बन्धमें हम ऐसी चर्चा किया करते हैं कि केवली भगवान निश्चयसे तो स्वको जानता है और व्यवहारसे परको जानता है। ऐसा जाननेके सम्बन्धमें निश्चय और व्यवहार वाली बातें केवली भगवानमें ही नहीं है, हम भी, आप भी निश्चयसे स्वको जानते हैं और व्यवहारसे परको जानते हैं। अन्तर यह है कि मिथ्यादृष्टि जीव तो जिस रूपमें स्वको जानता है उस ही रूपमें जानता है और प्रभु जैसा रूप प्रभुमें है उस रूपमें जानता है। परपदार्थोंका जानना उपचारसे ही कहा जाता है, अर्थात् इस दृष्टिसे इन बातोंको लेना है कि कोई भी जीवपरपदार्थोंमें तन्मय होकर अर्थात् परका परिणमन और अपने परिणमनको एक करके नहीं जानता है इसलिए परका जानना व्यवहारसे कहा है। तो जहाँ इससे भी और मोटे किन्तु टेढ़े व्यवहार लगे हैं वहाँ उन सर्वजीवोंके विषयमें इस जानन सम्बन्धी निश्चयव्यवहारको न बताकर प्रभुके सम्बन्धमें जानन का निश्चयव्यवहार बताया जाता है।

सर्व पदार्थोंमें निश्चयव्यवहारमयता—भैया! व्यवहार तो जब तक द्रव्य है तब तक चलता है, पर ज्ञानी जीवकी प्रवृत्ति ऐसी होती है कि वह परमार्थसे तो निश्चयका ही आशय लिए है, और उपायमें यथायोग्य व्यवहारधर्मका आलम्बन लिए है, पर उससे ऊँची वृत्ति जगनेपर उस व्यवहारसे भी परे हो जाता है। इस प्रकरणमें यह बताया जा रहा है कि दोनोंको समझो और जहाँ जैसी पदवी है, जहाँ जैसी स्थिति है उसके अनुरूप निश्चय मार्गमें बढ़कर बाह्य और व्यवहारनयके आश्रयको तजिए। यह सब सम्वरपूर्वक निर्जरा बताई गयी है।

निश्चयमार्गमें बढ़नेपर पूर्व पूर्व व्यवहारमार्गका त्याग—इस सम्यग्दृष्टि जीवके शुद्ध आत्माका सम्यक् श्रद्धान करना, ज्ञान करना अनुष्ठान करना इस रूप निश्चयरत्नत्रयके प्राप्त होनेपर निश्चयरत्नत्रयका लाभ होता है और वीतराग जो धर्मध्यान, शुक्ल ध्यान है, जहाँ कि शुभ और अशुभ सर्व प्रकारकी बाह्य वस्तुवोंका आलम्बन नहीं है, ऐसी निर्विकल्प समाधि होनेपर निश्चयरत्नत्रयके मध्य परमसमाधिका लाभ होता है। जीवकी ऐसी स्थिति में जहाँ किसी भी परजीवविषयक राग न हो, किसी परद्रव्यविषयक विकल्प न हो, केवल आत्मीय ज्ञानानन्दरससे छका हुआ हो, जो समाधि होती है वह समाधि अत्यन्त दुर्लभ है।

निगोदसे निकलकर दुर्लभ देह पाकर अन्तमें मनुष्यभवकी दुर्लभता—देखिए इस जीवने कैसी-कैसी श्रेष्ठ बातें पाते-पाते आज यह स्थिति पायी है। प्रथम तो निगोदसे निकलना कठिन है। यह निगोद एकेन्द्रिय जीवका एक भेद है। वह निगोदसे निकला तो बाकी स्थावर जीवोंके भवसे निकलना कठिन है। निकला तो दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय इनमें आना कठिन है, फिर

पंचेन्द्रिय होना कठिन है। पंचेन्द्रियमें संज्ञी बनना और बड़ी चीज है, संज्ञियोंमें पर्याप्त बन जाना और कठिन बात है। पर्याप्त संज्ञी होनेपर भी मनुष्य बनना और कठिन बात है, मनुष्य भी बन बए तो देखमें कितने मनुष्य हैं। और लोग यह शंका करते हैं कि हमने तो यह सुना है कि मनुष्य होना बड़े पुण्यका काम है और आजकल जनसंख्या बढ़ती चली जा रही है तो पुण्यवान बहुत उत्पन्न हो रहे हैं क्या? तो ऐसे मनुष्योंकी बात नहीं कही जा रही है, इसे तो यों समझो कि जिन जीवोंने पुण्य किया और अच्छे मनुष्य बनना था, वे विदेहमें या अन्य जगह उत्पन्न होने थे, उनसे कोई दुराचार पाप बन गया तो ऐसे पापी जीव यहाँ पैदा होनेकेलिए मानो भेजे जा रहे हैं। ऐसे मनुष्य बन गए तो क्या, न बन गए तो क्या?

मनुष्यभवमें भी दुर्लभ दुर्लभ स्थिति पाकर भी धर्मग्रहणकी दुर्लभतामनुष्योंमें भी अच्छे देशवाले होना दुर्लभ है, अच्छे कुल वाले होना दुर्लभ है, अच्छे रूप वाला होना दुर्लभ है, फिर इन्द्रियोंकी सावधानी होना दुर्लभ है, फिर निरोग होना दुर्लभ है, फिर उत्तम आचरण मिलना दुर्लभ है। देखो निगोदसे लेकर कैसी-कैसी दुर्लभ चीजें पाते हुए आज ऐसी स्थितिपर आ गए, इतनेपर भी धर्मका श्रवण मिलना कठिन है। धर्मका श्रवण करने वाले पुरुषोंकी संख्या देखो। अभी कोई सनीमा होने लगे चाहे बाहुबलिका ही क्यों न हो तो कितनी बड़ी संख्या जुड़ जायगी, और बाहुबलिका वृतान्त जो कि शास्त्रोंमें है उसके सुनने वाले लोगोंकी संख्या देखो कितनी है? बिल्कुल ही कम संख्या हो जाती है। धर्मका श्रवण रह सके यह दुर्लभ चीज है। धर्म भी सुननेपर धर्मका ग्रहण कर लेना, बुद्धिमें उस बातका समा जाना यह दुर्लभ चीज है।

धर्मग्रहण करनेके बाद भी दुर्लभ दुर्लभ साधना पाकर अन्तमें समाधिकी दुर्लभताभैया! धर्मको ग्रहण भी कर लिया तो अब उस चीजकी धारणा बनाए रहना, भूलना नहीं, यह तो और दुर्लभ बात है। मान लो वैसा ज्ञान भी कर लिया जाय तो उसका श्रद्धान होना कठिन है। यह ऐसा ही है, अन्य प्रकार नहीं है ऐसा विश्वास भी हो जाय, श्रद्धान भी हो जाय तो उसपर चलना याने संयमका पालन करना कठिन है। संयममें भी लग जाय तो विषय सुखोंसे बिल्कुल मुख मोड़ लेना यह कठिन है। विषय सुखोसे मुख मोड़ भी लिया तो क्रोधादि कषाय न आए यह बात कठिन है। जैसे मान लो साधु हो गए, विषय सुखोंसे मुख भी मुड़ चुका, ये सारी बातें आ गईं पर क्रोध कषाय रंच भी न हो और कठिन है। इतनी भी बात हो और ऐसी ही धारणा बनी रहे यह और कठिन है और फिर सबसे अत्यन्त कठिन है समाधिमरण। सब कुछ हो गया पर समाधिपूर्वक अंतमें मरण न हो सका, क्लेश, संक्लेश ही बने रहे तो ऐसे समयमें चित्त चलित हो जाता है, और चाहे जो क्लेश हों पर चित्त चलित न हो, समाधिमरण हो यह कितनी कठिन बात है?

दुर्लभ सिद्धिके बाधकोंमें मूल बाधक मिथ्यात्व भावपरम्परासे बड़ी दुर्लभ दुर्लभ बात पाकर अन्तमें समाधि पाना बड़ी कठिन बात है। क्यों दुर्लभ हो गया कि विभाव परिणम प्रबल हो

गया, पहिले तो मिथ्यात्व देखो कितना प्रबल है? सबको देखो तो कोई किसी धुनमें है, कोई किसी धुनमें है। ये अच्छा फैशन बनाकर सुन्दर कपड़ोंसे सजकर, केश सजाकर तिसपर भी मनको संतोष नहीं होता तो मुखपर पाउडर लगाकर, ओठोंमें लाल-लाल लिपिस्टिक लगाकर निकलती हैं। उन बेचारोंको क्या यह पता है कि देखने वाले तो आखिर यह सोचते होंगे कि देखो कैसी मूर्खता है, इस प्राकृतिक शरीरको भूलकर राख और रंग लपेटना इनकी कैसी दृष्टि है? इस अज्ञानताको क्या देखने वाले न जानते होंगे? दूसरे मनमें हमारी मूर्खतापर हँसते होंगे ऐसी बात शायद वे जानती भी होंगी, मगर फिर भी सुन्दरता इसीमें समझती हैं। तो इन जीवोंमें पहिले तो यह मिथ्यात्व भाव ही प्रबल है।

दुर्लभ सिद्धिके बाधक विषय, कषाय व निदानफिर विषय कषायोंका भाव प्रबल है, फिर ख्यातिका, पूजाका, वैभव लाभका, भोगोंकी इच्छाका, निदान बँधका ये समस्त विभाव प्रबल हैं, तब अत्यन्त दुर्लभ जो धर्मका धारण है, संयमका पालन है, तपस्याकी भावना है, समाधिमरणकी भावना है, वे कहाँ से जगें। सो दुर्लभसे दुर्लभ इस स्थितिको प्राप्त करके भी न चेते तो यह जानना चाहिए कि बहुत ऊँचे चढ़ा हुआ व्यक्ति गिरे तो जैसे उसके चोट लगती है इसी प्रकारसे ऐसे मन, ऐसे कुल, ऐसी सम्पदाको पाकर भी यदि विषयोंसे पतित हुए कषायोंसे पतित हुए तो समझो कि हमारी उतनी निम्न दशा हो जायेगी जितनी कि निम्न दशा असंज्ञीको भी मरनेके बाद नहीं मिलती है।

मरकर मनुष्यका सर्वत्र गमन संभवअसंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव पहिले नरकसे नीचे जाकर उत्पन्न नहीं होते हैं, और ये कर्मभूमिया मनुष्य मरकर ७वें नरक चलें जायें, निगोद चले जायें और सिद्ध बन जायें, इनकी समस्त गतियाँ खुली हुई हैं। मनुष्यकी तरह किसी जीवको सब जगह पैदा होनेका अवसर नहीं है। देव मरकर देव नहीं होगा, नारकी नहीं बनेगा, भोगभूमिया न बनेगा, वह कर्मभूमिया में ही आयगा। कुछ देर मरकर एकेन्द्रिय भी हो सकते हैं। इसी प्रकार सभी जीवोंको कैद है कि मरकर वे कुछ ही भवोंमें पैदा हो सकते हैं, पर मनुष्य भवकेलिए कैद नहीं है। कौनसा ऐसा पद है, कौनसा ऐसा स्थान है जहाँ मनुष्य उत्पन्न न हो सके?

रत्नत्रयकी उत्पत्ति और वृद्धिभैया! दुर्लभसे दुर्लभ ऐसे साधनोंका अवसर पाया है तो इस अवसरको पाकर अब ऐसा यत्न करना चाहिए कि हित हो, समाधिमरण हो और अपने स्वरूपमें स्थिति हो। इस बातके करनेमें साधक संयम है। आरचरण बिना कुछ बात नहीं हो सकती। जहाँ सम्यग्दर्शन शुरू होता है आचरण भी उसी समयसे शुरू हो जाता है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी उत्पत्ति किसी न किसी रूपमें एकसाथ होती है। फिर अणुव्रत है, महाव्रत है, ये विशेषताएँ चलती हैं पर अंकुर तीनोंका एकसाथ होता है। सम्यग्दर्शनमें सम्यग्दर्शन तो है ही, और सम्यग्ज्ञान हो गया, ज्ञान तो था ही, सम्यकत्व होते ही वह ज्ञान सम्यक् कहलाने लगा और सम्यग्दर्शन होते ही स्वरूपकी दृष्टि हुई, प्रतीति हई, इस प्रकारका स्वरूपाचरण भी हुआ।

कुछ तो तत्वपर दृष्टि गई। तत्वपर दृष्टिके लगनेका नाम आचरण है। अब चारित्र यह बढ़ाना है कि वहाँ स्थिर रह सकें।

ज्ञातृत्वकी स्थिरतारूप सम्यक् चारित्रस्वरूप सम्बोधनमें जहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रका लक्षण कहा है वहाँ बताया है सम्यक्चारित्रके लक्षणमें कि ज्ञाता द्रष्टा बने रहनेकी स्थिति का नाम सम्यक्चारित्र है। तो वास्तवमें चारित्र देहकी क्रिया नहीं है, क्योंकि वह तो आत्माका धर्म हैं चारित्र तो जो आत्माका शुद्ध स्वरूप है उस शुद्ध स्वरूपमें ही उपयोगकी स्थिरताके हो जानेका नाम चारित्र है, चारित्रका आधार है, आत्मा है, देह नहीं है, क्योंकि चारित्र गुण है आत्माका इसलिए चारित्रका विकास आत्मामें होगा, चारित्रका विकास आत्माकी परिणतिसे होगा।

व्यवहारचारित्र धारण करनेका कारणप्रश्न व्यवहारचारित्र क्यों करना होता है? उत्तर व्यवहारचारित्र धारण करनेका कारण है कि हम विषयकषायसे मलिन हैं तो जब हमारे संस्कार विषयकषायरूप बने हुए हैं तो राग तो बराबर चल रहा है ना, तो उस रागका वहाँ उपयोग हो? उपयोग तो करना ही होगा, ऐसी स्थितिमें रागका उपयोग विषयकषायोंमें न हो; किन्तु ऐसे परद्रव्योंमें हो जो शुद्ध हों, जिनमें किया हुआ अनुराग हमें भुलावेमें न डाले; जो वास्तविक चारित्र है उसके धारण करनेकी पात्रता बनी रहे, वहाँ राग करना चाहिए। इसीके फलमें, दयामें, अहिंसामें, गुरुभक्तिमें, देवभक्तिमें राग होता है तो यह राग उस अशुभ भावके काटनेकेलिए हुआ, इसलिए यह व्यवहारधर्म किया जाता है।

व्यवहारचारित्रकी स्थितिमें भी लक्ष्यकी सावधानीकी प्रधानताइस व्यवहार धर्म को करते हुए प्रत्येक ज्ञानीको, प्रत्येक ब्रतीको यह ध्यान रखना चाहिए कि हमारा व्यवहार धर्म करनेका लक्ष्य है निश्चयतत्वमें उपयोगको स्थिर बना लेना। इस लक्ष्यका यदि पता न हो तो व्यवहार धर्म विडम्बना बन जाता है। और इस लक्ष्यका पता हो तो व्यवहारधर्म हमारे चारित्रमें साधक हो जाता है। इस प्रकार परम्परासे दुर्लभसे दुर्लभ ऐसी स्थिति में आए हैं। इस स्थितिमें आकर हमें समाधिमें प्रमाद नहीं करना चाहिए।

सम्यग्दृष्टिका निर्मल ज्ञानप्रकाश और प्रतापअब इस अधिकारके अंतमें अमृतचंद जी सूरि एक कलशमें कह रहे हैं रुन्धन् बंधं नवमिति निजैः संगतोऽष्टाभिरङ्गैः, प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन। सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यान्त मुक्तं, ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरङ्गं विगाह्य। सम्यग्दृष्टि जीव स्वयमेव अपने निजी रसमें मग्न होता हुआ आदि, मध्य, अंत कर रहित सर्वव्यापक एक प्रवाहरूप धारावाही ज्ञान होकर आकाशवत् निर्मल, निर्लेप शुद्ध ज्ञानप्रकाशके निःसीम भूमिमें प्रवेश करके अपने सहज स्वाभाविक विलाससे विलास करता है। ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव नवीन बँधको तो इस ज्ञान और वैराग्यके बलसे रोकता है और पहिलेके उन बँधनोंकोनिश्चय अष्ट अंगोंकी वृत्ति द्वारा नष्ट करता है।

धर्माश्रयमें प्रमादी न होनेका कर्तव्यसो भैया! अत्यन्त दुर्लभ रूप इन बँधोंको प्राप्त करके अर्थात् सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्रको प्राप्त करके यदि यह जीव प्रमादी होता है तो संसाररूपी भयावह वनमें फिरता है, वह जीव बेचारा असहाय वराक बनकर चिरकाल तक संसारमें परिभ्रमण करता है। अतः इस उच्चतर स्थितिमें हम सबको धर्माश्रय करनेमें रंच भी प्रमादी नहीं होना चाहिये।

कर्मोंका भेषपरित्यागइस प्रकार इस निर्जराधिकारमें ये जो कर्म अपना भेष लेकर आये थे सो अब ज्ञानकी दृष्टिमें वह आ गया कि वास्तविक पदार्थ तो यहाँ यह है, इसका तो यह भेष और यह रूप यों बन गया है, ऐसी तत्वके मर्मकी बात इस प्रभु द्वारा जाननेके कारण ये पाठ अदा करनेवाले अपना भेष छोड़कर, अपना पार्ट छोड़कर, नीरस बनकर निकल जाते हैं और वहाँपर उपयोगभूमि शांतरसके वातावरणमें शांत हो जाती है।

इस निर्जराधिकारके इस प्रकरणसे हमें मुख्यतया क्या-क्या बातें जाननी चाहियें, वे बातें इन्हीं ग्रन्थोंमें संकेत रूपमें यथा तथा प्रकरण दिए गए हैं। उन भावोंको करनेसे, वैसा ज्ञान बनानेसे, दृष्टि बनानेसे यह जो कर्मोंका ऊधम है, जिनसे हम दुःखी होते हैं वे सब संकट शांत हो सकते हैं और हम इस मोक्षमार्गमें आगे बढ़ सकते हैं।

॥ इति समयसार प्रवचन नवम भाग समाप्त ॥